सनातन धर्म की सभ्यता

पण्डित कालूरामजी शास्त्री ने जो ''आर्यसमाज की मौत'' नामक पुस्तक लिखी है, उसमें सनातनधर्म की सभ्यता का तो दिवाला ही निकाल दिया है। बजाय इसके कि वे ईमानदारी के साथ आर्यसमाज के सिद्धान्तों पर नुक़्ताचीनी करते, वे आर्यसमाज, आर्यसमाजियों तथा ऋषि दयानन्दजी को भरपेट गालियाँ देने में ही अपनी योग्यता की पराकाष्ठा समझते हैं। हम उनकी सभ्यता के कतिपय नमूने पाठकों की सेवा में रखते हैं—

१. स्वामी दयानन्दजी ने गालियाँ, असत्यभाषण, चालबाज़ी, धोखा, हठकर, ईसाई धर्म को वैदिक धर्म बनाया है। —पृ० क, पं० १२ से १५ तक।
२. इस बेहूदगी के साथ विवेचन किया। —पृ० क, पं० २२
३. स्वामीजी ने इसकी पुष्टि चोरी के बल पर की है। —पृ० ग, पं० ६
४. कौन कहता है कि आर्यसमाजी संसार को धोका देकर, चालाकी चलकर आर्यसमाज को नहीं फैलाते? —पृ० च, पं० २७
५. और वे संसार की दृष्टि में नीच बने। —पृ० छ, पं० ९
६. धर्म-धर्म चिल्लाकर मनुष्यों को पापी बनानेवाले ठगों से बचो। —पृ० ज, पं० १२
७. आर्यसमाज कोई धर्म नहीं, केवल धोखा और चालबाजी का पुञ्ज है। —पृ० ञ, पं० ८
८. आर्यसमाज तुमको ईसाई बनाये रखनेवाला खूँख्वार जानवर है। —पृ० ञ, पं० १६
९. आप पागलों की-सी बात छोड़ दें। —पृ० ६, पं० २
१०. नास्तिक हो या मुसलमान या ईसाई। —पृ० ६, पं० २४
११. बस आर्यसमाज की छार हो गई। —पृ० ६, पं० ३०
१२. दूसरों की उन्नति पर आर्यसमाजी जलते हैं। —पृ० ९, पं० ७
१३. स्वामीजी को मूर्ख बतलाते हैं। —पृ० ९, पं० १३
१४. तुम बड़े हुज्जतबाज़[१] हो। —पृ० १०, पं० २४
१५. वेद के दुश्मन अक़्ल को नीलाम करनेवाले। —पृ० ११, पं० १०-११
१६. तुम दयानन्द को बेवक़ूफ समझ नास्तिक बन जाओ। —पृ० १२, पं० २
१७. स्वामी दयानन्दजी हैं बड़े मसख़रे। —पृ० २०, पं० ४
१८. फूट गई आर्यसमाजियों के पितरों की तक़दीर। —पृ० २०, पं० ३०
१९. स्वामीजी को देश का शत्रु और मूर्ख समझते हैं। —पृ० २५, पं० १
२०. स्वामीजी की इस नीचता। —पृ० २७, पं० ११
२१. स्वामीजी क्रोध में आकर कंजर झूठ लिखते हैं। —पृ० २९, पं० १०
२२. स्वामी दयानन्दजी को उन्माद है। —पृ० २९, पं० २४
२३. स्वामी दयानन्दजी कापड़ी जाति में उत्पन्न हुए थे और लड़कपन में इनका पेशा गाना तथा नाचना था। —पृ० ३०, पं० २२
२४. स्वामीजी वैसे गालियाँ देने लगे जैसे औरतें राँड-नपूता आदि। —पृ० ३३, पं० १९

---

१. झगड़ालू, तू-तू मैं-मैं करनेवाला।

२५. स्वामी दयानन्दजी के चित्त में नीच वृत्तियाँ थीं। —पृ० ३५, पं० १३
२६. सत्यार्थप्रकाश है या असत्यार्थप्रकाश। —पृ० ४२, पं० १०
२७. यहाँ पर तो स्वामी दयानन्दजी ने आर्यसमाजियों को कंजर बना दिया। —पृ० ४७, पं० १५
२८. व्यभिचारप्रिय स्वामीजी। —पृ० ४९, पं० ५
२९. यह जो वेद है इसमें व्यभिचार ही भरा है या कुछ और। —पृ० ४९, पं० २२
३०. स्वामी दयानन्दजी अपने मन में आये व्यभिचार को। —पृ० ५३, पं० ५
३१. धन्य है तुम्हारे ऋषि को जो वेदार्थ के बहाने से तुमको बेवक़ूफ बनाने के लिए अनाप शनाप बक दे। —पृ० ५४, पं० १८
३२. सच तो बतलाओ इतना बड़ा वेद का दुश्मन क्या कोई आज तक हुआ है? क्यों न हो, नास्तिकों का महर्षि है न! —पृ० ५६, पं० ३
३३. दयानन्द पोप। —पृ० ११८, पं० २०
३४. आर्यसमाजियों को प्लेग घेर लेता है। —पृ० ११७, पं० २८
३५. छोड़ो स्वामीजी की लिखी चंडूखाने की गप्पें। —पृ० १०१, पं० ७
३६. आर्यसमाजियों का मुँह काला हो। —पृ० ९३, पं० ८
३७. नीमच के शास्त्रार्थ में बुद्धदेव धर्म-कर्म, दीन-ईमान को तिलांजलि दे। —पृ० ८४, पं० १८
३८. स्वामी दयानन्दजी की पी हुई भंग। —पृ० ४८, पं० ८
३९. एक बार बोलिये आर्यसमाज की बेहयाई की जय। —पृ० ८३, पं० १८
४०. आर्यसमाजी कुत्ते की भाँति दुत्कारे जावेंगे। —पृ० ७७, पं० १०
४१. दयानन्दजी वेदों के रक्षक हैं या भक्षक। —पृ० ७७, पं० १
४२. तुम अवश्य निरक्षर हो। —पृ० ६३, पं० ९
४३. आर्यसमाजियों का कोई धर्म ही नहीं। —पृ० ८७, पं० १९
४४. इस मूर्ख समुदाय का एक भी मनुष्य लेखनी नहीं उठावेगा। —पृ० १३१, पं० ३०
४५. शास्त्रार्थ के समय वेदशास्त्रशून्य बुद्धू, कबाड़ू, कचरू शास्त्रार्थ करने आते हैं। —पृ० १७७, पं० २३
४६. क्या जीवित पितरों से यह कह सकते हैं कि आप लोगों ने भोजन तो खा लिया, ज़रा हमारी स्त्री को भी...। —पृ० २९१, पं० ५
४७. बुद्धदेव पंजाबी और रामचन्द्र सुनार देहलवी। —पृ० ६, पं० २४
४८. वाह रे वाह सत्यार्थप्रकाश के बनानेवाले लालबुझक्कड़, क्या कहना! तुझको ऐसी-ऐसी मिथ्या बातें लिखने में तनिक भी लज्जा और शरम न आई? निपट अन्धा ही बन गया?...भला इन महाझूठ बातों को वे अन्धे पोप और बाहर-भीतर की फूटी आँखोंवाले उनके चेले सुनते और मानते हैं। बड़े आश्चर्य की बात है कि ये मनुष्य हैं वा अन्य कोई? इन सत्यार्थप्रकाशादि के बनानेहारे क्यों नहीं गर्भ ही में नष्ट हो गये वा जन्मते समय मर क्यों न गये? क्योंकि इन पापों से बचते तो आर्यावर्त्त देश दुःखों से बच जाता। —पृ० ३४, पं० १३
४९. स्वामीजी को उन्माद है नहीं तो धनलोलुपतारूप स्वार्थ ने स्वामीजी से यह पाप करवाया है। —पृ० ३६, पं० ९

५०. स्वामीजी का झूठ बोलना और झूठ लिखना ही पेशा था। —पृ० ४२, पं० २९

५१. यहाँ पर भी बेवक़ूफ ईश्वर भूल गया था। —पृ० ५४, पं० ३०

५२. स्वामीजी स्त्री को पति के पास नहीं जाने देते, यहाँ ही मौज उड़ाने की आज्ञा देते हैं। —पृ० ५२, पं० १४

५३. यहाँ पर स्वामीजी ने स्त्रियों को मौज उड़ाने के लिए पतियों का जंकशन खोल दिया। —पृ० ५२, पं० २८

५४. स्वामीजी के नास्तिक भावों को सिद्ध करनेवाले हैं। —पृ० ५, पं० २४

५५. मूर्ख आर्यसमाजी स्वामी दयानन्दजी की गहरी चाल को कैसे समझ लें! —पृ० ६३, पं० १५

यह हमने नमूने के तौर से कुछ उदाहरण लिख दिये हैं, वरना सारी-की-सारी किताब इसी प्रकार के खुराफ़ात से भरी पड़ी है। हमारा यह काम नहीं कि हम गालियों का जवाब गाली से दें। हम आर्यसमाज पर किये आक्षेपों का सभ्यतापूर्वक उत्तर देंगे और इन गालियों के विषय में हम सनातनधर्म के ठेकेदारों को उनके ही शब्दों में यही कहना उचित समझते हैं कि—

त्वदीयं वस्तु गोविन्द तुभ्यमेव समर्पये।

ग्रन्थ-प्रामाण्याप्रामाण्यविषय

इससे पूर्व कि हम प्रश्नों के उत्तर लिखें, इस बात का लिखना आवश्यक है कि आर्यसमाज किन-किन ग्रन्थों को प्रमाण मानता है और किन-किन को अप्रमाण मानता है। परमात्मा ने सृष्टि के आरम्भ में मनुष्यों को धर्म-अधर्म का ज्ञान देने के लिए चारों वेदों को प्रकाशित किया। परमात्मा सर्वज्ञ है और उसका ज्ञान निर्भ्रान्त है। चूँकि वेद ईश्वर का ज्ञान है इसलिए, चारों वेद—मूलसंहिता स्वत:प्रमाण हैं। उनके प्रमाण के लिए और प्रमाण की आवश्यकता नहीं है, अत: धर्माधर्म का निर्णय करने में वेद ही अन्तिम कसौटी है। शेष सब ऋषिकृत ग्रन्थ जो ब्रह्मा से लेकर ऋषि दयानन्द तक के बनाये हुए हैं, वे सब परत:प्रमाण हैं, अर्थात् यदि वेदों के अनुकूल हों तो प्रमाण हैं, यदि इनमें भी कोई बात वेद के विरुद्ध हो तो वह प्रमाण नहीं है। बाकी सब ग्रन्थ जो ऋषियों के बनाये हुए नहीं हैं चाहे तो वे ऋषि दयानन्द से पहले मनुष्यों के बनाये हुए हों और चाहे वे ऋषि दयानन्दजी से पीछे के मनुष्यों के, अर्थात् तुलसीराम स्वामी, स्वामी दर्शनानन्द, स्वामी श्रद्धानन्द, पं० राजाराम, पं० आर्यमुनि, पं० सातवलेकर, स्वामी सत्यानन्द, पं० नरदेव, पं० भगवद्दत्त, पं० विश्वबन्धु, स्वामी सर्वदानन्द, पं० जयदेव इत्यादि किसी के भी बनाये हुए क्यों न हों, वे सब ग्रन्थ अनार्ष होने से अप्रमाण हैं। आर्यसमाज पर उन ग्रन्थों का उत्तरदायित्व नहीं है। यदि कोई मनुष्य अपने-आपको आर्यसमाजी कहता हुआ आर्यसमाज के सिद्धान्तों के विरुद्ध लिखता है तो हम उसका भी अपने उत्तरों में वैसा ही खण्डन करेंगे जैसाकि दूसरे अप्रामाणिक ग्रन्थों का। इस बारे में ऋषि दयानन्दजी का लेख स्पष्ट है कि—

"जैसे ऋग्यजु:, साम और अथर्व चारों वेद ईश्वरकृत हैं, वैसे ऐतरेय, शथपथ, साम और गोपथ चारों ब्राह्मण, शिक्षा, कल्प, व्याकरण, निघण्टु, निरुक्त, छन्द और ज्योतिष छह वेदों के अङ्ग, मीमांसादि छह शास्त्र वेदों के उपाङ्ग, आयुर्वेद, धनुर्वेद, गान्धर्ववेद और अर्थवेद—ये चार वेदों के उपवेद इत्यादि सब ऋषि-मुनियों के किये ग्रन्थ हैं, इनमें भी जो-जो वेदविरुद्ध प्रतीत हो उस-उसको छोड़ देना, क्योंकि वेद ईश्वरकृत होने से निर्भ्रान्त, स्वत:प्रमाण अर्थात् वेद का प्रमाण वेद ही से होता है। ब्राह्मणादि सब ग्रन्थ परत:प्रमाण अर्थात् इनका प्रमाण वेदाधीन है।"

''ऋषिप्रणीत ग्रन्थों को इसलिए पढ़ना चाहिए कि वे बड़े विद्वान्, सर्वशास्त्रवित् और धर्मात्मा थे और अनृषि, अर्थात् जो अल्पशास्त्र पढ़े हैं और जिनका आत्मा पक्षपातसहित है, उनके बनाये हुए ग्रन्थ भी वैसे ही हैं।''
—सत्यार्थ० समुल्लास ३

सारांश यह कि आर्यसमाज वेदों को स्वत:प्रमाण, ऋषिकृत ग्रन्थों को परत:प्रमाण, और अनार्ष मनुष्यकृत ग्रन्थों को अप्रमाण मानता है। आर्यसमाज का यह प्रसिद्ध सिद्धान्त है, अत: सनातनधर्मियों को चाहिए कि वे प्रमाण देते समय ज़रा सोच लिया करें कि जिस पुस्तक का वे प्रमाण दे रहे हैं, वह आर्यसमाज के लिए प्रमाण भी है या नहीं। यों ही इधर-उधर के रिसालों, अखबारों, अनार्ष ग्रन्थों तथा अनार्ष भाष्यों को पेश करके अपना तथा हमारा समय व्यर्थ न खोवें।

प्रथम संस्करण

सत्यार्थप्रकाश तथा संस्कारविधि

वेदभाष्य, सत्यार्थप्रकाश तथा अन्य पुस्तकों के संस्कृत अंशों के हिन्दी अनुवाद का तथा उनके प्रूफों के पढ़ने का काम पण्डितों पर ही छोड़ दिया गया था। पौराणिक शिक्षा के संस्कारवाले उन पण्डितों ने कहीं-कहीं ऐसी बातें उन पुस्तकों में धर दीं जो वैदिक शिक्षा के विरुद्ध थीं। अतएव स्वामीजी ने संवत् १९३५ ईसवी संवत् १८७८ में नीचे लिखा विज्ञापन प्रकाशित किया—

विज्ञापनम्

सबको विदित हो कि जो-जो बातें वेदों की और उनके अनुकूल हैं, उनको मैं मानता हूँ, विरुद्ध बातों को नहीं, इससे जो-जो मेरे बनाये सत्यार्थप्रकाश वा संस्कारविधि आदि ग्रन्थों में गृह्यसूत्र वा मनुस्मृति आदि पुस्तक के वचन बहुत-से लिखे हैं, वे उन ग्रन्थों के मतों को जानने के लिए लिखे हैं। उनमें से वेदार्थ के अनुकूल को साक्षिवत् प्रमाण और विरुद्ध को अप्रमाण मानता हूँ। जो-जो बातें वेदार्थ से निकलती हैं, उन सबको प्रमाण करता हूँ, क्योंकि वेद ईश्वरवाक्य होने से मुझको सर्वथा मान्य हैं और जो-जो ब्रह्माजी से लेकर जैमिनिमुनि पर्यन्त महात्माओं के बनाये वेदार्थानुकूल ग्रन्थ हैं, उनको भी मैं साक्षी के समान मानता हूँ और जो सत्यार्थप्रकाश के पृष्ठ ४२ पंक्ति २५ में ''पित्रादिकों में से जो कोई जीता हो उसका तर्पण न करे और जितने मर गये हैं, उनका तो अवश्य करे'' तथा पृष्ठ ४७ पंक्ति २१ में ''मरे भये पित्रादिकों का तर्पण और श्राद्ध करता है'' इत्यादि तर्पण और श्राद्ध के विषय में जो छापा गया है सो लिखने और शोधनेवालों की भूल से छप गया है। इसके स्थान में ऐसा समझना चाहिए कि जीवितों की श्रद्धा से सेवा करके नित्य तृप्त करते रहना, यह पुत्रादि का परम धर्म है और जो-जो मर गये हों उनका नहीं करना, क्योंकि न तो कोई मनुष्य मरे हुए जीव के पास किसी पदार्थ को पहुँचा सकता और न मरा हुआ जीव पुत्रादि से दिये पदार्थों को ग्रहण कर सकता है। इससे यह सिद्ध हुआ कि जीते पिता आदि की प्रीति से सेवा करने का नाम तर्पण और श्राद्ध है, अन्य का नहीं। इस विषय में वेदमन्त्रादि का प्रमाण भूमिका के ११ अंक के पृ० २५१ से लेके १२ अंक के २६७ पृ० तक छपा है। वहाँ देख लेना।
—दयानन्द ग्रन्थमाला पृ० १४—१५

''जिस समय मैंने यह ग्रन्थ 'सत्यार्थप्रकाश' बनाया था, उस समय और उससे पूर्व संस्कृत भाषण करने, पठन-पाठन में संस्कृत ही बोलने और जन्मभूमि की भाषा गुजराती होने के कारण से मुझको इस भाषा का विशेष परिज्ञान न था, इससे भाषा अशुद्ध बन गई थी। अब भाषा बोलने और लिखने का अभ्यास हो गया है, इसलिए इस ग्रन्थ को भाषा-व्याकरणानुसार शुद्ध करके दूसरी वार छपवाया है। कहीं-कहीं शब्द, वाक्य, रचना का भेद हुआ सो करना उचित था, क्योंकि इसके भेद किये विना भाषा की परिपाटी सुधरनी कठिन थी; परन्तु अर्थ का भेद नहीं किया गया है, प्रत्युत

विशेष तो लिखा गया है। हाँ, जो प्रथम छपने में कहीं-कहीं भूल रही थी, वह निकाल, शोधकर ठीक-ठीक कर दी गई है।''

—सत्यार्थप्रकाश की भूमिका

वाक्यार्थबोध

''वाक्यार्थबोध में चार कारण होते हैं—आकांक्षा, योग्यता, आसत्ति और तात्पर्य। जब इन चारों बातों पर ध्यान देकर जो पुरुष ग्रन्थ को देखता है तब उसको ग्रन्थ का अभिप्राय यथायोग्य विदित होता है। ''**आकांक्षा**'' किसी विषय पर वक्ता की और वाक्यस्थपदों की आकांक्षा परस्पर होती है। ''**योग्यता**'' वह कहाती है कि जिससे जो हो सके, जैसे जल से सींचना। ''**आसत्ति**'' जिस पद के साथ जिसका सम्बन्ध हो उसी के समीप उस पद को बोलना व लिखना। ''**तात्पर्य**'' जिसके लिए वक्ता ने शब्दोच्चारण वा लेख किया हो उसी के साथ उस वचन वा लेख को युक्त करना। बहुत-से हठी, दुराग्रही मनुष्य होते हैं कि जो वक्ता के अभिप्राय से विरुद्ध कल्पना किया करते हैं, विशेषकर मत वाले लोग, क्योंकि मत के आग्रह से उनकी बुद्धि अन्धकार में फँके नष्ट हो जाती है।''

—सत्यार्थप्रकाश की भूमिका, पृ० २

व्याख्या

(१) **आकांक्षा** नाम इच्छा का है। जैसे बोलने और सुननेवाले की विषय को जानने की इच्छा होती है, वैसे ही वाक्यों में भी शब्दों की आपस में इच्छा होती है, अर्थात् जबतक किसी पद के साथ इच्छानुसार दूसरे पदों को मिलाया न जावे तबतक वाक्य अपूर्ण रहता है। इससे कोई प्रयोजन सिद्ध नहीं होता। उदाहरणार्थ एक आदमी बोलता है 'घोड़ा'। अब इस घोड़ा पद को दूसरे पदों की आवश्यकता है। जबतक और पद इसके साथ न मिलाये जावें तबतक केवल घोड़ा कहने से कोई प्रयोजन सिद्ध नहीं हो सकता। क्या पता लगे कि कहनेवाले की क्या इच्छा है? वह 'घोड़ा लाओ' कहना चाहता है या 'घोड़ा ले-जाओ', 'घोड़ा खरीदो', 'घोड़ा बेचो', 'घोड़ा आता है', 'घोड़ा कूदता है', 'घोड़ा दौड़ता है' कहना चाहता है। सारांश यह कि जबतक घोड़ा पद के साथ कोई और पद न जोड़ा जाए तबतक बोलनेवाले के प्रयोजन को नहीं जाना जा सकता। इसी को आकांक्षा कहते हैं।

(२) **योग्यता** नाम क़ाबलियत का है। जिस चीज़ में जो क़ाबलियत हो वही समझना। जैसे जल में सींचने की योग्यता है और आग में जलाने की, तो इन दोनों को वैसा ही समझना योग्यता है; किन्तु पानी को जलानेवाला और आग को सिञ्चन करनेवाला समझना योग्यता के विरुद्ध है।

(३) **आसत्ति** नाम समीपता का है। जिस पद का जिस पद के साथ सम्बन्ध हो उसी के साथ बोलना आसत्ति कहलाती है। इसके विरुद्ध करना आसत्ति के विरुद्ध है। जैसे एक मनुष्य ने देशी खाँड की दुकान खोली और उसने अपनी दुकान पर यह बोर्ड लिखकर लगाया कि 'यहाँ पर देशी खाँड मिलती है', किन्तु पढ़नेवाला इसको इस प्रकार से पढ़ता है कि 'यहाँ परदेशी खाँड मिलती है'। अब देखिए यहाँ केवल 'पर' पद को 'यहाँ' के साथ न पढ़कर 'देशी' के साथ मिलाकर पढ़ने से दुकानदार का मतलब बिलकुल ख़त्म हो जाता है और ग्राहकों पर क़तई उसके विरुद्ध संस्कार पड़ता है। ऐसा करना आसत्ति के विरुद्ध है।

(४) **तात्पर्य** नाम अभिप्राय का है। लिखनेवाले या बोलनेवाले ने जिस अभिप्राय के लिए कुछ लिखा वा बोला हो, उससे वही अभिप्राय ग्रहण करना तात्पर्य कहाता है। उसके विरुद्ध कल्पना करना तात्पर्य के विरुद्ध है। जैसे एक मनुष्य का जूता टूट गया था। वह बाज़ार में जूता खरीदने गया, किन्तु उसको सारे शहर में जूता न मिला। वह सायं एक मित्र के मकान पर गया और उससे कहने लगा कि 'यार! यह शहर कितना निकम्मा है कि यहाँ जूते भी नहीं मिलते!' मित्र ने फ़ौरन

हँसकर उत्तर दिया कि 'आपका सिर सलामत चाहिए, जूतों की क्या कमी है!' अब जरा विचार करें कि उसने तो जूतों का पैर के लिए ज़िक्र किया था, किन्तु उसके मित्र ने उसके अभिप्राय के विरुद्ध सिर के लिए जूतों का प्रयोग करके मख़ौल बना लिया। ऐसा करना तात्पर्य के विरुद्ध होता है।

जो आदमी इन चारों बातों को ध्यान में रखकर किसी पुस्तक को पढ़ता है, वह ग्रन्थकर्त्ता के अभिप्राय को ठीक-ठीक समझता है, किन्तु जो मनुष्य इन चारों बातों को ध्यान में न लाकर स्वार्थ, अन्धविश्वास और बेईमानी से ग्रन्थकर्त्ता के अभिप्राय के विरुद्ध उसके ग्रन्थ के लेख में से अभिप्राय निकालकर जनता को धोखा देता है, वह महापापी, आत्महत्यारा और नरकगामी है, जैसाकि वेद की आज्ञा है कि—

असुर्या नाम ते लोका अन्धेन तमसावृताः।
ताँस्ते प्रेत्याभि गच्छन्ति ये के चात्महनो जनाः॥ —यजुः० ४०।३

भाषार्थ—जो मनुष्य आत्महत्यारे हैं, वे इस जीवन में भी दुःख पाते हैं और मरने के पश्चात् भी ऐसे लोक-लोकान्तरों को प्राप्त होते हैं जो अन्धे अँधेरे से ढके हुए हैं और जिनमें निशाचर लोग निवास करते हैं।

हम इस बात को बिना संकोच के कह सकते हैं कि स्वामी दयानन्दकृत ग्रन्थों के बारे में सनातनधर्म के ठेकेदार पूर्णरूप से आत्महत्या से काम ले रहे हैं और उपर्युक्त चारों कारणों को तिलाञ्जलि देकर स्वामीजी के ग्रन्थों के लेख को तोड़-मरोड़कर स्वामीजी के अभिप्राय के विरुद्ध अभिप्राय निकालकर जनता को धोखे में डालने का यत्न कर रहे हैं।

उदाहरणार्थ—

(१) स्वामीजी ने **'न तस्य प्रतिमा अस्ति'** यजुः० ३२।३ के भाष्य में लिखा है कि "उस परमेश्वर की प्रतिमा, परिमाण, उसके तुल्य, अवधि का साधन, प्रतिकृति, मूर्त्ति, वा आकृति नहीं है।" एक बार का ज़िक्र है कि एक स्थान पर आर्यसमाज तथा सनातनधर्म्म में मूर्त्तिपूजा विषय पर शास्त्रार्थ हुआ। आर्यपण्डित ने सनातनी पण्डित की बोलती बन्द कर दी। पौराणिक पण्डित ने तंग आकर कहा कि यदि स्वामी दयानन्दजी के वेदभाष्य से मूर्त्तिपूजा दिखला दें तब तो मानोगे? लोगों ने कहा बिल्कुल ठीक है, अवश्य मानेंगे। तब पौराणिक पण्डित ने स्वामीजी का यजुर्वेदभाष्य उठाया और उपर्युक्त भाष्य में से मूर्त्ति पद पर अंगुली रखकर दो-चार साधारण भाषा जाननेवालों को दिखा दिया कि देख लो, यह मूर्त्ति शब्द लिखा है या नहीं। उन्होंने कहा कि हाँ मूर्त्ति तो लिखा है। यह सुनते ही सनातनियों ने ताली बजा दी कि स्वामीजी के भाष्य से मूर्त्ति प्रसिद्ध हो गई। अब यह तरीक़ा निश्चयपूर्वक आकांक्षा के विरुद्ध तथा आत्महत्या करके नरक में जाने का साधन है।

(२) स्वामी दयानन्दजी ने अपने यजुर्वेद के भाष्य अध्याय २१ मन्त्र ६० के भाष्य में लिखा है कि "ऐश्वर्य के लिए बैल से भोग करें (उपयोग लें) और अध्याय ६ मन्त्र १४ के भाष्य में लिखा है कि "हे शिष्य! अच्छी शिक्षाओं से मैं तेरी जिससे रक्षा की जाती है उस गुदा-इन्द्रिय को पवित्र करता हूँ", अर्थात् धर्मानुकूल करता हूँ, किन्तु सनातनधर्म के ठेकेदार यह कहकर जनता को धोखा देते हैं कि स्वामीजी ने बैल से और शिष्य से मैथुन करने की आज्ञा दी है, हालाँकि बैल में तथा शिष्य में मैथुन की योग्यता नहीं है तथा स्वामीजी ने 'भोग करें' के अर्थ 'उपयोग लें' तथा 'शुद्ध करता हूँ' के अर्थ स्पष्ट 'धर्मानुकूल करता हूँ' लिख भी दिये हैं। यह कथन योग्यता के विरुद्ध है।

(३) स्वामी दयानन्दजी ने सत्यार्थप्रकाश के दशम समुल्लास में लिखा है कि—

[(प्रश्न) जो सभी अहिंसक हो जाएँ तो व्याघ्रादि पशु इतने बढ़ जाएँ कि सब गाय आदि

पशुओं को मार खाएँ, तुम्हारा पुरुषार्थ ही व्यर्थ हो जाए?

(उत्तर) यह राजपुरुषों का काम है कि जो हानिकारक पशु वा मनुष्य हों उनको दण्ड देवें और प्राण से भी वियुक्त कर दें।

(प्रश्न) फिर क्या उनका मांस फेंक दें?

(उत्तर) चाहे फेंक दें चाहे कुत्ते आदि मांसाहारियों को खिला देवें अथवा कोई मांसाहारी खावे तो भी संसार की कुछ हानि नहीं होती,] किन्तु उस मनुष्य का स्वभाव मांसाहारी होकर हिंसक हो सकता है। जितना हिंसा और चोरी, विश्वासघात, छल-कपट आदि से पदार्थों को प्राप्त होकर भोग करना है, वह अभक्ष्य और अहिंसा-धर्मादि कर्मों से प्राप्त होकर भोजनादि करना भक्ष्य है।

—सत्यार्थ० समु० १०

इस पाठ को इकट्ठा पढ़ने से स्पष्ट पता लगता है कि स्वामीजी मुर्दे के मांस को भी इस कारण अभक्ष्य बतला रहे हैं कि उससे मांसभक्षण का स्वभाव होकर मनुष्य का हिंसक होना सम्भव है और हिंसा से प्राप्त किया पदार्थ अभक्ष्य है, किन्तु पौराणिक मण्डल की ज़मीर-फ़रोशी[१] देखें कि वे सत्यार्थप्रकाश का उतना पाठ सुनाकर कि जितना कोष्ठ में दिया है जनता में भ्रम फैलाते हैं कि स्वामीजी ने मुर्दा जानवर और मनुष्य का मांस खाने की आज्ञा दी है। हालांकि अगला पाठ पढ़ने से सारा भ्रम दूर हो जाता है। धर्म के ठेकेदारों का यह तरीक़ा आसत्ति के विरुद्ध है।

(४) स्वामीजी ने मनुष्यमात्र को वेद का अधिकार सिद्ध करने के लिए **'यथेमाम्'** यजु:० २६।२ के अर्थ में '(स्वाय) अपने स्त्री, सेवकादि' लिखकर स्त्री तथा सेवकों को भी वेद पढ़ने का अधिकार बतलाया है। पौराणिक मण्डल ने इससे ईश्वर की स्त्री (पत्नी) तथा नौकर की कल्पना करके वक्ता के अभिप्राय के विरुद्ध ईश्वर को देहधारी सिद्ध करने का यत्न किया है, हालाँकि यहाँ स्त्री से पत्नी का नहीं अपितु स्त्रीजाति तथा सेवक से ईश्वरभक्त मनुष्यमात्र का ग्रहण है, और समस्त स्त्री तथा मनुष्य ईश्वर की प्रजा होने से ईश्वर के स्व तथा ईश्वर सबका स्वामी है। पौराणिक मण्डल की इस प्रकार की चेष्टा तात्पर्य के विरुद्ध है।

आप इस सारी किताब [आर्यसमाज की मौ] में इसी प्रकार की चेष्टा देखेंगे। ग्रन्थकर्त्ता ने स्वामीजी के सिद्धान्त के विरुद्ध स्वामीजी के ग्रन्थों के पाठ से अवतार, मूर्त्तिपूजा, श्राद्ध, जन्म से वर्णव्यवस्था आदि उन बातों को सिद्ध करने की चेष्टा की है कि जिनको स्वामीजी ने वेदविरुद्ध सिद्ध करके उनका स्पष्ट खण्डन किया है। हमने उन स्थलों की पर्याप्त समालोचना कर दी है। पाठक पुस्तक को पढ़ते हुए उपर्युक्त चार बातों का ध्यान रक्खें।

—मनसाराम 'वैदिक तोप'

---

१. आत्मा को बेचना

पं० मनसाराम जी का अनन्य ग्रन्थ

पौराणिक पोप पर वैदिक तोप

(अर्थात् सनातन धर्म की मौत)

आर्यसमाज का प्रारम्भिक युग शास्त्रार्थों का युग था। एक समय था जब आर्यसमाज के प्रत्येक उत्सव पर शास्त्रार्थ होता था। पं० मनसाराम जी ने जहाँ सहस्रों व्याख्यान दिये, सैकड़ों शास्त्रार्थ किये, वहाँ अनेक पुस्तकें भी लिखीं। आपके द्वारा लिखी छोटी और बड़ी सभी पुस्तकें बहुत महत्त्वपूर्ण हैं।

यह पुस्तक उर्दू में थी। अत्यन्त परिश्रमपूर्वक इसका अनुवाद किया है। सभी प्रमाणों को मूल ग्रन्थों से मिलाया है। इस प्रकार इस ग्रन्थ को उपयोगी बनाने का भरसक प्रयत्न किया है।

पाठकगण इस पुस्तक को पढ़ें, इस पर मनन और चिन्तन करें। यह ग्रन्थ पाठकों के मन और मस्तिष्क को ज्ञान-ज्योति से भर देगा। इसके अध्ययन से उन्हें वैदिक सिद्धान्तों की महत्ता और सार्वभौमिकता का ज्ञान होगा, एवं पुराणों की अश्लीलता, खोखलेपन और अनर्गलता का भान होगा।

— स्वामी जगदीश्वरानन्द सरस्वती

दो शब्द

जिस समय भारत में अविद्या और अन्धकार छा रहा था, नये-नये पन्थ और मत पनप रहे थे, वैदिक धर्मी विधर्मी बन रहे थे, मूर्त्तिपूजा, अन्धविश्वास, गुरुडम, पाखण्डवाद बढ़ रहा था, मन्दिरों में देवदासियाँ रक्खी जाती थीं, पण्डों और पुजारियों ने लूट का बाज़ार गर्म कर रक्खा था, दुराचार और व्यभिचार पनप रहा था—ऐसे भीषण समय में महर्षि दयानन्द सरस्वती भारतीय रंगमञ्च पर अवतरित हुए।

महर्षि दयानन्द बाल ब्रह्मचारी थे, वेदादि शास्त्रों के प्रकाण्ड विद्वान् और बहुत बड़े योगी थे। भारत के प्राचीन गौरव का प्रत्यावर्तन करने के लिए उन्होंने अपना सर्वस्व समर्पित कर दिया। मरती हुई आर्यजाति में उन्होंने सिंह का पराक्रम फूँक दिया। पाखण्डवाद के विरुद्ध उन्होंने क्रान्ति का उद्घोष किया। अपने अमर ग्रन्थ सत्यार्थप्रकाश में उन्होंने सभी मतों और पन्थों की पोल खोलकर उनकी धज्जियाँ उड़ा दीं। वैदिक सिद्धान्तों के प्रचार-प्रसार के लिए उन्होंने आर्यसमाज की स्थापना की।

महर्षि दयानन्द के बलिदान के पश्चात् अनेक लोगों ने महर्षि दयानन्द के ग्रन्थों पर लेखनी उठाई। अनेक ग्रन्थ उनके खण्डन में लिखे गये। इस प्रकार का एक ग्रन्थ लिखा गया 'आर्यसमाज की मौत'। इस पुस्तक का मुँहतोड़ उत्तर दिया शास्त्रार्थमहारथः पं० मनसारामजी 'वैदिक तोप' ने।

पुस्तक क्या है, रत्नों से तोलने योग्य है। महर्षि पर जितने भी आक्षेप किये गये हैं, उन सबका मुँहतोड़ उत्तर है। प्रमाणों की झड़ी लगी हुई है। पुस्तक कैसी है? ऐसी कि पढ़ते ही अपने पाठकों के हृदयों पर सिक्का जमा देगी।

यह ग्रन्थ १९३६ में लाहौर [अब पापिस्तान] में छपा था। उस समय हाथोंहाथ बिक गया। बहुत समय से इसकी माँग थी। हमने 'भगवती प्रकाशन' द्वारा इसे छाप दिया है। मूल्य प्रचार की दृष्टि से बहुत कम रक्खा है। सन् ३६ में अखबारी घटिया कागज पर छपी इस पुस्तक का मूल्य चार रुपये था। आज चाँदी का रुपया ५५ रुपये का है। उस दृष्टि से इसका मूल्य २५० रुपये होना चाहिए, क्योंकि इसका काग़ज और छपाई आदि उस संस्करण की अपेक्षा बहुत उत्तम हैं।

आज पाखण्ड फिर बढ़ रहा है; मूर्त्तिपूजा, अवतारवाद और गुरुडम खुलकर ताण्डव नृत्य कर रहे हैं। आज पुनः इस बात की आवश्यकता है कि इस पौराणिकता के गढ़ पर प्रबल प्रहार किया जाए। यह पुस्तक इस कार्य में अत्यन्त सहायक होगी।

इस ग्रन्थ के सम्पादन और ईक्ष्यवाचन [प्रूफ़ रीडिंग] में हमने बड़ा परिश्रम किया है। इस ग्रन्थ के प्रत्येक प्रमाण को हमने मूल ग्रन्थ से मिलाया है। जहाँ प्रमाण छूट गये थे, वहाँ ढूँढकर लिख दिये गये हैं। जहाँ पते अशुद्ध थे उन्हें शोध दिया गया है। **महर्षि दयानन्द की आलोचनाओं से घबराकर लोगों ने अपने ग्रन्थों को बदल डाला। यह आर्यसमाज की बहुत बड़ी विजय है।** गीताप्रेस गोरखपुर ने अपने यहाँ से प्रकाशित महाभारत आदि ग्रन्थों से अनेक अध्यायों को और बहुत-से अध्यायों में से अनेक श्लोकों को निकाल डाला। अनेक स्थानों पर पाठ बदल दिये।

इस पुस्तक में दिये सारे प्रमाण ठीक हैं। एक-दो अध्यायों का अन्तर हो सकता है; श्लोक-संख्या में १ से लेकर ४-५ श्लोक आगे-पीछे हो सकते हैं, तथापि सभी प्रमाण हैं अवश्य। अनेक स्थानों पर हमने निर्देश भी दे दिये हैं।

इस ग्रन्थ का दूसरा संस्करण 'भगवती प्रकाशन' द्वारा प्रकाशित किया गया था। तीसरा संस्करण सर्वश्री विजयकुमार गोविन्दरामहासानन्द, नई सड़क, दिल्ली द्वारा प्रकाशित किया जा रहा है। आशा है पाठक पहले संस्करणों की भाँति इसे भी अपनाएँगे।

वेद-मन्दिर
लेखरामनगर [इब्राहीमपुर], दिल्ली-११० ०३६
दूरभाष - ७२०२२४९

विदुषामनुचरः
—जगदीश्वरानन्द सरस्वती
२०.१.९९

शास्त्रार्थमहारथः पं० मनसारामजी 'वैदिक तोप'

—स्वामी जगदीश्वरानन्द सरस्वती

स्वनामधन्य पं० मनसारामजी 'वैदिक तोप' आर्यजगत् की उन गिनी-चुनी विभूतियों में से हैं, जिन्होंने अपना जीवन और सर्वस्व लगाकर वेद और वैदिक ज्योति के आलोक से लाखों व्यक्तियों के हृदय, मन और मस्तिष्क को आलोकित किया है।

पण्डितजी का जन्म १८९० में हड्डुँवाला नंगल [जाखल के निकट] हरियाणा प्रान्त में हुआ। आपके पिता लाला शंकरदासजी अन्न-धन से सम्पन्न, सुखी सद्गृहस्थ और अच्छे व्यापारी थे। वे कट्टर पौराणिक और मूर्त्तिपूजक थे। पुत्र भी उन्हीं के रंग में रंग गया।

श्री मनसारामजी की प्राइमरी [चतुर्थ श्रेणी] तक की शिक्षा वामनवाला ग्राम में हुई। तत्पश्चात् टोहाना के मिडल स्कूल में प्रविष्ट हो गये। १९०७ में पण्डितजी आठवीं श्रेणी में प्रविष्ट हुए। इसी वर्ष में पिताजी का देहान्त हो गया। पण्डितजी को स्कूल छोड़कर घर सँभालना पड़ा।

लाला शंकरदासजी के गृह पर एक पटवारी श्री रामप्रसादजी रहा करते थे। ये बड़े सदाचारी, मधुरभाषी और निष्ठावान् आर्यसमाजी थे। जब मनसारामजी घर पर रहने लगे तब वे इन्हें वैदिक धर्म के सिद्धान्तों और तत्त्वज्ञान का परिचय कराया करते थे। मनसारामजी बाल्यकाल से ही अति तार्किक और मेधावी थे। युक्ति और तर्क से समझाने पर सत्य बात को तुरन्त स्वीकार कर लेते थे। महाशय रामप्रसादजी के सत्सङ्ग से आप शीघ्र ही आर्यसमाज की ओर आकृष्ट हो गये।

१९०८ में टोहाना में आर्यों और पौराणिकों के मध्य एक शास्त्रार्थ हुआ। आर्यसमाज का पक्ष प्रस्तुत करनेवाले पं० राजारामजी शास्त्री और पौराणिकों की ओर से पं० लक्ष्मीनारायणजी थे। श्री उदमीरामजी पटवारी शास्त्रार्थ के प्रधान नियुक्त हुए।

पं० राजारामजी ने पूछा—'शास्त्रार्थ किस विषय पर होगा?'

'आर्यसमाज के नियमों पर'—पं० लक्ष्मीनारायणजी ने उत्तर दिया।

पं० राजारामजी बोले—'आर्यसमाज के नियम तो आप भी मानते हैं। शास्त्रार्थ तो ऐसे विषय पर हो सकता है, जिसपर आपका हमसे मतभेद हो।' पौराणिक पण्डितजी छूटते ही बोले—'हम आपका एक भी नियम नहीं मानते।' पण्डितजी ने शास्त्रार्थ के प्रधान उदमीरामजी से पूछा—'क्योंजी! क्या आप हमारा कोई भी नियम नहीं मानते?' पटवारीजी भी तैश में आकर बोले—'हम आर्यसमाज का एक भी सिद्धान्त नहीं मानते।' पं० राजारामजी ने कहा—'लिखकर दो।' उदमीरामजी ने लिख दिया—'हम आर्यसमाज का एक भी सिद्धान्त नहीं मानते।' अब पण्डितजी ने जनता को सम्बोधित करते हुए कहा—आर्यसमाज का सिद्धान्त है—'वेद का पढ़ना-पढ़ाना और सुनना-सुनाना सब आार्यों का परम धर्म है। पौराणिक मत यह हुआ कि 'न वेद को पढ़ना, न पढ़ाना, न सुनना और न सुनाना।' आर्यसमाज का नियम है कि—'सत्य के ग्रहण करने और 'असत्य के त्याागने में सर्वदा उद्यत रहना चाहिए।' पौराणिक मत का नियम बना—असत्य को स्वीकार करने और सत्य के परित्याग में सदैव तत्पर रहना चाहिए।'

श्रोताओं के मस्तिष्क पर पं० राजाराम की युक्तियों की धाक बैठ गई। श्री उदमीरामजी आर्यसमाज में प्रविष्ट हो गये। इस शास्त्रार्थ का मनसारामजी पर भी गहरा प्रभाव पड़ा। वे आर्यसमाज के दीवाने हो गये और जी-जान से वैदिक धर्म के सेवक बन गये।

अब श्री मनसारामजी के मन में संस्कृत अध्ययन की धुन सवार हुई। सर्वप्रथम आप कुरुक्षेत्र

की सनातनधर्म संस्कृत पाठशाला में प्रविष्ट हुए। यहाँ से कंखल (हरद्वार) पहुँचे। तीन-चार वर्ष यहाँ भी पढ़ते रहे, परन्तु तृप्ति नहीं हुई। संस्कृत अध्ययन की लगन में आपने गुरुकुल काँगड़ी में चपड़ासी की नौकरी कर ली। उनका विचार था कि गुरुकुल में रहकर जहाँ एक ओर संस्कृत का अध्ययन कर लूँगा तो दूसरी ओर आर्यसमाज की सेवा भी कर सकूँगा, परन्तु यहाँ भी इनकी मन:कामना पूर्ण नहीं हुई। यहाँ से निराश होकर यह ज्ञानपिपासु विद्या-नगरी काशी में पहुँच गया।

काशी में संस्कृत अध्ययन करनेवाले विद्यार्थियों के लिए अनेक क्षेत्र खुले हुए थे, परन्तु इन क्षेत्रों में जन्म के ब्राह्मणों को ही भोजन मिलता था। संस्कृतज्ञान के इस पिपासु ने कितने दिन भूखे रहकर काटे, इसे कौन जानता है? श्री मनसारामजी जंगल से बेर तोड़ लाते थे। उन्हें ही खाकर जीवन-निर्वाह कर लेते थे। एक दिन वे बेर तोड़ रहे थे। एक सेठ उधर आ निकले। उन्हें संस्कृत का विद्यार्थी भाँपकर सेठ ने पूछा—'क्या कर रहे हो?' मनसारामजी ने उत्तर दिया—'संस्कृत पढ़ने के लिए यहाँ आया हूँ। भूखा रहता हूँ। पढ़ने की इच्छा है। इन बेरों को भिगोकर रख दूँगा। जब भूख लगेगी तो खा लूँगा।'

सेठ ने पूछा—'क्षेत्रों में भोजन क्यों नहीं करते?' मनसाराम ने उत्तर दिया—'वहाँ तो केवल ब्राह्मणों को भोजन मिलता है, मैं जन्म से अग्रवाल हूँ।'

सेठ की ग़ैरत [स्वाभिमान] जागी। वह स्वयं भी ऐसे कई क्षेत्रों को दान देता था। उसने मनसाराम से कहा—'तुम अमुक क्षेत्र में जाकर भोजन किया करो, वहाँ कोई तुम्हारी जाति नहीं पूछेगा।'

भोजन-व्यवस्था से निश्चिन्त होने पर मनसारामजी विद्याध्ययन में जुट गये। विद्या समाप्त करके मनसारामजी काशी के पण्डितों की मण्डली में गये और उनके समक्ष एक प्रश्न रखा कि—'मैं जन्म से अग्रवाल हूँ, मुझे अब पण्डित कहलाने का अधिकार प्राप्त है या नहीं?' इसपर बड़ा वाद-विवाद हुआ। मनसारामजी की विजय हुई। उन्हें पण्डित की पदवी प्रदान की गई।

विद्या-प्राप्ति के पश्चात् आप कार्यक्षेत्र में उतरे। आपके गहन स्वाध्याय, तीव्रबुद्धि, अकाट्य तर्कों के कारण आपकी कीर्ति-चन्द्रिका छिटकने लगी। आर्यसमाज के क्षितिज पर एक नया नक्षत्र अपनी प्रभा विकीर्ण करने लगा। पण्डितजी सिरसा में धर्मप्रचार कर रहे थे। उन्हीं दिनों स्वामी स्वतन्त्रानन्दजी सिरसा पधारे। उनकी बहुमुखी प्रतिभा से प्रभावित होकर वे उन्हें आर्यप्रतिनिधि सभा पंजाब की सेवा में ले-आये। पण्डितजी ने सारे पंजाब को वैदिक नाद से गुँजा दिया। शास्त्रार्थ में उनकी विशेष रुचि थी। शास्त्रार्थ-संग्राम के वे विजयी योद्धा थे। रोपड़ में शास्त्रार्थ हो रहा था। कई दिन हो गये शास्त्रार्थ समाप्त होने में नहीं आ रहा था। अन्त में पं० मनसारामजी को बुलाया गया। आपने अपनी योग्यता, तर्कशीलता और युक्तियों से पाखण्ड का खण्डन कर पौराणिक के छक्के छुड़ा दिये। एक आर्यनेता ने आपको शतप्रतिशत अङ्क दिये।

एक बार भिवानी में पौराणिकों के साथ आपका शास्त्रार्थ हुआ। पौराणिकों ने पण्डितजी को उनका पूरा समय नहीं दिया। शास्त्रार्थ के नियमानुसार पण्डितजी ने पूरे २५ मिनट माँगे। उत्तर में पण्डितजी पर लाठियों से आक्रमण हुआ। शास्त्रार्थ के पश्चात् पण्डितजी ने एक ट्रैक्ट लिखा—'मेरे पच्चीस मिनट।' इस शास्त्रार्थ का टेकचन्दजी पंसारी पर ऐसा प्रभाव पड़ा कि उसने प्रतिमाएँ फेंक दीं और आस्तिक बन गया।

आर्यों से भिन्न लोगों पर पण्डितजी की कैसी धाक थी, इस विषय में निम्न घटना अति महत्त्वपूर्ण है। एक बार रामाँमण्डी में एक जैन विद्वान् आये। उनके प्रवचन होने लगे। एक दिन सभा-समाप्ति पर एक किसान-वेशधारी ग्रामीण ने जैनियों के अहिंसा-सम्बन्धी सिद्धान्त पर कुछ प्रश्न कर दिये। प्रश्न सुनते ही जैन विद्वान् ने कहा—'आप पं० मनसाराम तो नहीं हैं? ऐसे प्रश्न

वे ही कर सकते हैं। साधारण व्यक्ति इतनी बारीकी से सोच ही नहीं सकता।' सचमुच वह ग्रामीण व्यक्ति पं० मनसारामजी ही थे।

पण्डितजी ने हिसार ज़िले में स्थान-स्थान पर शास्त्रार्थों का आयोजन करके पौराणिकों में खलबली मचा दी। पण्डितजी का नाम सुनते ही पौराणिकों के होश उड़ जाते और शास्त्रार्थ-स्थल से खिसक जाने में ही अपनी वीरता समझते थे। अपनी नाक बचाने के लिए पौराणिकों ने यह प्रसिद्ध कर दिया कि आर्यों के पास पं० मनसाराम के अतिरिक्त और कोई विद्वान् है ही नहीं।

उधर २-३ मई १९३१ को आर्यसमाज जाखल के वार्षिकोत्सव पर शास्त्रार्थ रक्खा गया। इसके अध्यक्ष थे स्वामी स्वतन्त्रानन्दजी और शास्त्रार्थकर्त्ता थे पं० लोकनाथजी 'तर्कवाचस्पति'। पण्डितजी ने 'शास्त्रार्थ जाखल' नाम से उर्दू में एक पुस्तक लिखी। पौराणिक बौखला उठे। भारी धन व्यय करके उन्होंने 'सनातनधर्म विजय' नामक पुस्तक लिखवाई। पुस्तक क्या थी गाली-गलौज का पुलन्दा था। पण्डितजी ने बड़ी सभ्य भाषा में युक्ति और प्रमाणों से सुभूषित लगभग पाँच गुणा बड़ा १२२४ पृष्ठों का ग्रन्थ लिखा, जिसका नाम था—'पौराणिक पोप पर वैदिक तोप'। यह पुस्तक केवल तीन रुपये में गुप्ता एण्ड कम्पनी, टोहाना ने प्रचारार्थ छापी थी। इस ग्रन्थ का प्रकाशन होते ही पं० मनसारामजी के नाम की धूम मच गई और उनका नाम ही 'वैदिक तोप' प्रसिद्ध हो गया।

पण्डितजी के तर्क कितने तीखे होते थे इसका आभास भटिण्डा-शास्त्रार्थ से होता है। पण्डितजी ने चार प्रश्न रक्खे—

१. सनातनधर्म में पशुवध आदिकाल से ही है या बाद की मिलावट है?
२. नाविक की पुत्री सत्यवती के गर्भ से उत्पन्न व्यासजी का वर्ण पौराणिक मत के अनुसार क्या है?
३. पौराणिक मत के अनुसार सिख, जाट, स्वर्णकार और कायस्थ किस वर्ण में हैं?
४. पौराणिक मत के अनुसार दलित भाई ईसाई-मुसलमानों से अच्छे हैं वा नहीं? अच्छे हैं तो उनके साथ अच्छा व्यवहार क्यों नहीं किया जाता?

पं० मनसारामजी के प्रश्नों को सुनकर पौराणिक अधिकारी ने कहा—'मनसाराम को कान से पकड़कर बाहर निकलो!'

निर्भीक मनसारामजी तनिक भी नहीं घबराये और वहीं डटे रहे।

संगरूर-शास्त्रार्थ में मृतकश्राद्ध पर बोलते हुए पण्डितजी ने कहा—'मैं भी तो इस जन्म में कहीं से आया हूँ। यदि मृतकों को श्राद्ध का माल पहुँचता है तो मुझे क्यों नहीं मिलता? यदि श्राद्धों का माल मृतक पितरों तक पहुँचना सम्भव है तो मेरा पार्सल कहाँ जाता है?'

चोटी-सम्बन्धी विवाद छेड़कर पौराणिक आर्यसमाज पर आक्षेप करते रहे हैं। पं० मनसारामजी ने कहा—'यदि चोटी रखने से ही कोई हिन्दू बनता है तो बिना शिखा के सिख व स्त्रियाँ हिन्दू कैसे हो सकती हैं?' पौराणिकों ने कहा कि सिर पर जटाजूट रखने के कारण वे बिना शिखा के ही हिन्दू समझे जाएँगे। इसपर पण्डितजी ने कहा—'फिर तो सनातनधर्म की लुटिया ही समुद्र में डूबेगी। इस प्रकार तो ईसाई और मुसलमानों की सारी स्त्रियाँ हिन्दुओं में सम्मिलित हो जाएँगी।'

पण्डितजी विद्या के सागर थे। एक आर्यसमाज की वेदी पर वे बोलने के लिए बैठे तो श्रोताओं से पूछा—'बोले किस विषय पर बोलूँ?' श्रोता बोले—'जिसपर आप चाहें!' पण्डितजी ने कहा—'जिस भी वैदिक सिद्धान्त पर आप चाहेंगे, मैं उसी पर बोलूँगा।'

पण्डितजी राजनैतिक चटपटी बातों पर अखबारी व्याख्यान नहीं देते थे। उनके व्याख्यान सैद्धान्तिक होते थे। व्याख्यानों में प्रमाणों की बहुलता होती थी और रोचकता अन्त तक बनती रहती थी।

पण्डित मनसारामजी स्वतन्त्रता-आन्दोलन में कई बार जेल में भी गये। १९२२ ई० में गाँधीजी ने पहला सत्याग्रह चलाया तो पं० मनसारामजी भी जेल गये। उन्हें हिसार जेल में रक्खा गया। अभियोग के दिनों में स्वतन्त्रता के युद्ध में आपने एक ऐसी साहसिक बात कही जो किसी भी क्रान्तिकारी के मुख से न निकली होगी। पण्डितजी को हिसार में मजिस्ट्रेट के सामने वक्तव्य के लिए लाया गया। आपने अपने मुख पर कपड़ा डाल लिया। मजिस्ट्रेट के कारण पूछने पर आपने कहा—"जिस व्यक्ति ने चाँदी के चन्द ठीकरों के लिए अपने-आपको बेच दिया हो मैं उसकी शक्ल देखना नहीं चाहता।" यह न्यायालय का अपमान था। सत्याग्रह के साथ एक और अभियोग न्यायालय की मानहानि [Contempt of Court] भी चला। यह अभियोग बहुत लम्बा चला।

पण्डितजी ने साहित्य भी बहुत लिखा है। उनका सारा साहित्य खोजपूर्ण है। पौराणिकों के खण्डन में इस साहित्य से उत्तम साहित्य नहीं लिखा गया। उनके कुछ प्रसिद्ध ग्रन्थ ये हैं—

१. पौराणिक पोलप्रकाश—यह पाठकों के हाथ में है।
२. पौराणिक पोप पर वैदिक तोप। उर्दू में लिखा हुआ १२२४ पृष्ठ का बेजोड़ ग्रन्थ है।
३. चेतावनी प्रकाश—इसमें वैदिक सिद्धान्तों का मण्डन और पौराणिक मत का खण्डन किया गया है।
४. पौराणिक दम्भ पर वैदिक बम्ब—इसमें पौराणिकों के आक्षेपों का मुँहतोड़ उत्तर है।

शिवपुराण आलोचना, भविष्यपुराण आलोचना, आदि और भी अनेक ग्रन्थ पण्डितजी ने लिखे थे।

आज दुर्भाग्य से वे सभी अप्राप्य हैं।

जून सन् १९४१ में पण्डितजी परलोक सिधार गये। उस समय वे बड़लाढा मण्डी, जिला हिसार में अपने भाँजों के पास थे। उन्हें कारबंकल फोड़ा निकल आया और यही उनकी मृत्यु का कारण बना।

पण्डितजी का पार्थिव शरीर नहीं रहा, परन्तु उनका यशरूपी शरीर अजर और अमर है। अपने विशिष्ट गुणों और साहित्य के रूप में वे सदा अमर रहेंगे।

विषय-सूची

॥ ओ३म् ॥

पौराणिक पोलप्रकाश

(१) मृत्युञ्जय आर्यसमाज

अन्ति सन्तं न जहात्यन्ति सन्तं न पश्यति।
देवस्य पश्य काव्यं न ममार न जीर्यति॥ —अथर्व० १०।८।३२

अर्थ—मनुष्य समीप रहनेवाले परमात्मा अथवा अपने आत्मा को नहीं देखता है। उस पास रहनेवाले को छोड़ भी नहीं सकता। हे मनुष्य! ईश्वर के काव्य वेद को देख, वह न पुराना होता है और न मरता है।

आत्मा और परमात्मा इतने सूक्ष्म हैं कि बिना विशेष ज्ञान के उनके दर्शन होने असम्भव हैं, किन्तु अदृश्य होने से कोई उनका त्याग भी नहीं कर सकता। उनका ज्ञान प्राप्त करने के लिए परमगुरु परमात्मा की रचना वेद को पढ़ना-विचारना चाहिए। प्रभु का यह काव्य (रसमय उपदेश) सदा बना रहता है, कभी विनष्ट नहीं होता, कभी पुराना नहीं होता, अर्थात् वेद परिवर्तन-परिवर्धन, न्यूनाधिकता से रहित है और उसका लोप कभी नहीं होता। वह सदा नया बना रहता है, क्योंकि आर्यसमाज का मूलाधार—धर्म-पुस्तक ईश्वरीय ज्ञान वेद है, जैसाकि आर्यसमाज के तीसरे नियम में स्पष्ट है—'वेद सब सत्यविद्याओं का पुस्तक है, वेद का पढ़ना-पढ़ाना और सुनना-सुनाना सब आर्यों का परम धर्म है', अतः आर्यसमाज भी ईश्वरीय ज्ञान वेद के साथ-साथ सदा ही अमर है। हाँ, पौराणिक सनातनधर्म की मृत्यु में सन्देह नहीं है, क्योंकि उसका मूलाधार—धर्मपुस्तक ईश्वरीय ज्ञान वेद अथवा वेदानुकूल स्मृतियाँ नहीं हैं, अपितु उसका मूलाधार अनित्य पौराणिक इतिहास है, जैसाकि गरुड़पुराण में वर्णन है—

तर्केऽप्रतिष्ठा श्रुतयो विभिन्नाः, नासावृषिर्यस्य मतं न भिन्नम्।
धर्मस्य तत्त्वं निहितं गुहायाम्, महाजनो येन गतः स पन्थाः॥५१॥

—गरुड० आचारकाण्ड, अध्याय १०९

अर्थ—दलील=तर्क में निश्चलता नहीं, वेदों में विरोध है, एक भी ऐसा ऋषि नहीं है कि जिसकी सम्मति भिन्न न हो। इसलिए धर्म का तत्त्व गुफ़ा में रखा हुआ है। महापुरुष जिस रास्ते से चलें वही धर्म है।

उपर्युक्त प्रमाणों से आर्यसमाज की अमर जोत तथा पौराणिक सनातन धर्म की अकाल मौत स्पष्ट है।

(२) ईश्वर-स्तुति-प्रार्थना

ओ३म् विश्वानि देव सवितर्दुरितानि परासुव।
यद्भद्रं तन्न आसुव॥ —यजुः० अ० ३०, मं० ३

अर्थ—हे सकल जगत् के उत्पत्तिकर्त्ता, समग्र ऐश्वर्ययुक्त, शुद्धस्वरूप, सब सुखों के दाता परमेश्वर! आप कृपा करके हमारे सम्पूर्ण दुर्गुण, दुर्व्यसन और दुःखों को दूर कर दीजिए। जो कल्याणकारक गुण-कर्म-स्वभाव और पदार्थ हैं, वे सब हमको प्राप्त कराइए ताकि हम अज्ञानी, वितण्डावादी पौराणिकों के प्रश्नों का यथार्थ उत्तर देकर वैदिक सिद्धान्तों का संसार में प्रचार करने में समर्थ हो सकें। ओ३म् शान्तिः! शान्तिः!! शान्तिः!!!

पौराणिक स्तुति का नमूना—

नूतनजलधररुचये गोपवधूटीदुकूलचौराय।
तस्मै कृष्णाय नमः संसारमहीरुहस्य बीजाय॥

—न्यायमुक्तावली, प्रथम श्लोक

अर्थ—उस नवीन मेघ के समान कान्तिवाले, गोप लोगों की स्त्रियों के कपड़े चुरानेवाले तथा संसाररूपी वृक्ष के बीजस्वरूप श्रीकृष्णजी के लिए नमस्कार हो।

गोपालो कामिनीजारश्चौरजारशिखामणिः॥ —गोपालसहस्रनाम

मातस्तातजटासु किं सुरसरित्किं शेखरे चन्द्रमाः,
किं भाले हुतभुग्लुठत्युरसि किं नागाधिपः किं कटौ।
कृत्तिः किं जघनद्वयान्तर्गतं यद्दीर्घमालम्बते,
श्रुत्वा पुत्रवचोऽम्बिका स्मितमुखी लज्जावती पातु वः॥

—सुभाषितरत्नभाण्डागार, पार्वतीप्रकरण

क्या मेरे पौराणिक भाइयों को इस प्रकार की ईश्वरस्तुति पढ़कर तनिक भी लज्जा नहीं आती?

(३) ईश्वर का स्वरूप

वेदों में ईश्वर को सच्चिदानन्दस्वरूप, निराकार, सर्वशक्तिमान्, न्यायकारी, दयालु, अजन्मा, अनन्त, निर्विकार, अनादि, अनुपम, सर्वाधार, सर्वेश्वर, सर्वव्यापक, सर्वान्तर्यामी, अजर, अमर, अभय, नित्य, पवित्र और सृष्टिकर्त्ता वर्णन किया है, जैसाकि ऋषि दयानन्दजी ने आर्यसमाज के दूसरे नियम में प्रतिपादित किया है और यजुर्वेद के चालीसवें अध्याय में भी ईश्वर के स्वरूप का वर्णन किया है—

स पर्यगाच्छुक्रमकायमव्रणमस्नाविरꣳ शुद्धमपापविद्धम्।
कविर्मनीषी परिभूः स्वयंभूर्याथातथ्यतोऽर्थान् व्यदधाच्छाश्वतीभ्यः समाभ्यः॥

—यजुः० ४०।८

अर्थ—हे मनुष्यो! जो ब्रह्म (**शुक्रम्**) शीघ्रकारी, सर्वशक्तिमान् (**अकायम्**) स्थूल, सूक्ष्म और कारणशरीर से रहित (**अव्रणम्**) छिद्ररहित और नहीं छेद करने योग्य (**अस्नाविरम्**) नाड़ी आदि के साथ सम्बन्धरूप बन्धन से रहित (**शुद्धम्**) अविद्या आदि दोषों से रहित होने से सदा पवित्र और (**अपापविद्धम्**) जो पापयुक्त, पापकारी और पाप में प्रीति करनेवाला कभी नहीं होता (**परि, अगात्**) सब ओर से व्याप्त है, जो (**कविः**) सर्वज्ञ (**मनीषी**) सब जीवों के मनों की वृत्तियों को जाननेवाला (**परिभूः**) दुष्ट पापियों का तिरस्कार करनेवाला और (**स्वयम्भूः**) अनादिस्वरूप; जिसकी संयोग से उत्पत्ति; वियोग से विनाश; माता, पिता, गर्भवास, जन्म, वृद्धि और मरण नहीं होते वह परमात्मा (**शाश्वतीभ्यः**) सनातन, अनादिस्वरूप अपने-अपने स्वरूप से उत्पत्ति और विनाशरहित (**समाभ्यः**) प्रजाओं के लिए (**याथातथ्यतः**) यथार्थभाव से (**अर्थान्**) वेद द्वारा सब पदार्थों को (**व्यदधात्**) विशेषकर बनाता है (**सः**) वही परमेश्वर तुम लोगों के उपासना करने योग्य है।

इसी प्रकार अनेक वेदमन्त्र ईश्वर के स्वरूप का वर्णन करते हुए ईश्वर को निराकार प्रतिपादित करते हैं। चारों वेदों में एक भी मन्त्र ऐसा नहीं है जो ईश्वर को साकार वर्णन करता हो, क्योंकि साकार होने से ईश्वर एकदेशी हो जाता और सर्वव्यापक, सर्वज्ञ आदि गुणों के अभाव से वह ईश्वर कहलाने के योग्य ही नहीं रहता, अतएव वेद का सर्वतन्त्र सिद्धान्त यही है कि ईश्वर निराकार है। इसके विपरीत पुराणों में ईश्वर को जन्म धारण करनेवाला, शरीरधारी वर्णन

किया गया है, जैसाकि—

जगृहे पौरुषं रूपं भगवान्महदादिभिः।
सम्भूतं षोडशकलमादौ लोकसिसृक्षया॥

—भागवत० स्कं० १ अध्याय ३ श्लोक १

अर्थ—आदि में सृष्टि को पैदा करने की इच्छा से परमात्मा ने षोडशकला-सम्पूर्ण महानादि के साथ होनेवाले मनुष्य के रूप को धारण किया। इत्यादि।

अष्टादश पुराणों में अनेक स्थानों पर ईश्वर के विविध प्रकार के अवतारों [पागलपन] का वर्णन है, जोकि वेद के सर्वथा विरुद्ध और मिथ्या है, किन्तु पौराणिक पण्डितों के सिर पर आजकल एक ख़ब्त सवार हो रहा है कि वे ईश्वर के साकार होने के कलंक को वेदों के मत्थे मढ़ने की कोशिश में लगे हुए हैं। कहीं पर वेदों के नाम से अन्य किसी ग्रन्थ का प्रमाण देकर जनता को भ्रम में फँसाते हैं तो कहीं किसी ग्रन्थ का अपूर्ण प्रमाण देकर अर्थ का अनर्थ कर डालते हैं, कहीं पर वेदमन्त्र का मनमाना अर्थ करके उससे ईश्वर को साकार सिद्ध करने का प्रयत्न करते हैं। सारांश यह है कि लोग धर्म-अधर्म के विचार को तिलाञ्जलि देकर वेदविरुद्ध सिद्धान्तों को पुष्ट करने के प्रयत्न में आत्महत्या के भागी बनते हैं। इसका प्रमाण आपको अगले प्रश्न के उत्तर में मिलेगा।

ब्रह्म के दो रूप

(४) प्रश्न—वेद कहता है कि—

उभयं वा एतत्प्रजापतिर्निरुक्तश्चानिरुक्तश्चेत्यादि।

—शतपथ० कां० १४, अ० १, ब्रा० २, श्रुति० १८

प्रजापति (ईश्वर) दो प्रकार का है—रूपवान् और अरूप (साकार और निराकार)।

उत्तर—(१) प्रथम तो इस प्रश्न में आपने वेद तथा श्रुति का नाम लेकर शतपथब्राह्मण का प्रमाण देकर पाठकों को भ्रम में डालने का यत्न किया है। शतपथ वेद नहीं है अपितु ब्राह्मणग्रन्थ है और वह परतःप्रमाण है।

(२) दूसरे, वेद के नाम से शतपथ का प्रमाण पेश करना इस बात को सिद्ध करता है कि आप वेद में से कोई ऐसा मन्त्र पेश नहीं कर सकते जो ईश्वर को साकार सिद्ध कर सके।

(३) यहाँ शतपथ में भी ईश्वर का प्रकरण नहीं है, अपितु यज्ञ का प्रकरण है। आपने अधूरा पाठ लिखकर और 'ईश्वर' शब्द को अपनी ओर से मिलाकर अर्थ का अनर्थ किया है, जोकि सत्य-शील विद्वानों को शोभा नहीं देता। लीजिए, हम शतपथ का पूरा पाठ लिखकर उसका अर्थ कर देते हैं ताकि जनता को आपकी चालाकी का पता लग जावे। शतपथ में पाठ इस प्रकार है—[कोष्ठक में लिखे पाठ को आपने चुरा लिया है।]

(प्रजापतिर्वाऽएष यज्ञो भवति)। उभयं वा एतत्प्रजापतिर्निरुक्तश्चानिरुक्तश्च परिमितश्चापरिमितश्च तद्यद्यजुषा करोति यदेवास्य निरुक्तं परिमितं रूपं तदस्यैतेन संस्करोत्यथ यत्तूष्णीं यदेवास्यानिरुक्तमपरिमितꣳ रूपं तदस्यैतेन संस्करोति (स ह वाऽएतं सर्वं कृत्स्नं प्रजापतिꣳ संस्करोति यऽएवं विद्वानेतदेवं करोत्यथोपशयायै पिण्डं परिशिनष्टि प्रायश्चित्तिभ्यः॥१८॥) —शतपथ० का० १४, अ० १, ब्रा० २, मं० १८

पुस्तक में पाठ इस प्रकार है, जिसको पहले और पीछे से छोड़कर आपने बीच का पाठ दे दिया है। पूर्व के पाठ ये स्पष्ट है कि प्रजापति यज्ञ का नाम है, ईश्वर का नाम नहीं है। सम्पूर्ण पाठ का अर्थ इस प्रकार है—

अर्थ—प्रजापति यह यज्ञ है। यह प्रजापति यज्ञ दो प्रकार का है—रूपवान् और अरूप, परिमित और अपरिमित। वह जो यजुर्वेद के मन्त्रों से किया जाता है (अर्थात् जो यज्ञ में वेदी, पात्र, सामग्री, घृत, समिधा, याजक आदि) वह इस यज्ञ का कथनयोग्य परिमित रूप है और जो वह उनसे संस्कार किया हुआ यज्ञ है (अर्थात् जो अग्नि द्वारा सूक्ष्म होकर वायु, जल, आकाश आदि में फैल चुका है) उसके बारे में चुप ही होना पड़ता है। वह उस यज्ञ का न कथन करने योग्य अपरिमित रूप है। वह उस यज्ञ का उनसे किया संस्कार है। वह जो निश्चय से इस सम्पूर्ण यज्ञ को जानता है और जो इस यज्ञ का इस प्रकार से संस्कार करता है, वह उपशाय नामक क्रिया से भोजन को बचाकर प्रायश्चित्त के लिए रखता है॥ १८॥

अब कृपया पक्षपात को छोड़कर बतलावें कि शतपथ में यह यज्ञ के दो रूपों का वर्णन है या ईश्वर के दो रूपों का। ईश्वर की निराकारता वेदानुकूल होने से प्रमाण तथा सत्य और साकारता वेदविरुद्ध होने से अप्रमाण तथा मिथ्या है।

(५) प्रश्न—ईश्वर समस्त ब्रह्माण्ड में व्यापक हो रहा है और ब्रह्माण्ड के बाहर भी व्यापक है। ईश्वर दुनिया से बहुत बड़ा है। **पादोऽस्य विश्वा भूतानि त्रिपादस्यामृतं दिवि।** —यजुः० ३१।३ 'इस ब्रह्म के एक पाद में समस्त ब्रह्माण्डों की रचना है और इसी ब्रह्म के तीन पाद दिव में अमृत (सृष्टिरहित) हैं।' वेद ने हमको यह समझा दिया कि ईश्वर के एक हिस्से में तो दुनिया बनी है और ईश्वर के तीन हिस्से ऐसे हैं, जहाँ पर दुनिया नहीं बनी। ईश्वर के जिन तीन हिस्सों में संसार नहीं बना या यों कहिए कि तत्त्वों की रचना नहीं हुई, वहाँ पर ईश्वर निराकार है, किन्तु ईश्वर के जितने अंश में अनेक ब्रह्माण्ड बन गये उतने अंश में वेद ईश्वर को साकार बतलाते हैं।

उत्तर—वेद तो ईश्वर को साकार नहीं बतलाता, किन्तु आप वेदमन्त्र के अर्थ को तोड़-मरोड़कर साकार सिद्ध करने के यत्न में हैं और इसी कारण से आपने वेद का पूरा मन्त्र नहीं दिया, आधा मन्त्र दिया है। यदि आप पूरे मन्त्र को पढ़ेंगे तो आपको पता लगेगा कि वेद का अभिप्राय ईश्वर की महान् महिमा का और वर्त्तमान जगत् को ईश्वर की अपेक्षा अत्यन्त अल्प वर्णन करने का है, वरना अनन्त तथा सर्वव्यापक परमात्मा में अंश कल्पना नहीं की जा सकती। पूरा मन्त्र तथा उसका अर्थ इस प्रकार है—

एतावानस्य महिमातो ज्यायाँश्च पूरुषः।
पादोऽस्य विश्वा भूतानि त्रिपादस्यामृतं दिवि॥ —यजुः० ३१।३

अर्थ—हे मनुष्यो! **(अस्य)** इस जगदीश्वर का **(एतावान्)** यह दृश्य-अदृश्य ब्रह्माण्ड **(महिमा)** महत्त्वसूचक है **(अतः)** इस ब्रह्माण्ड से यह **(पुरुषः)** परिपूर्ण परमात्मा **(ज्यायान्)** अति प्रशंसति और बड़ा है **(च)** और **(अस्य)** इस ईश्वर के **(विश्वा)** सब **(भूतानि)** पृथिवी आदि चराचर जगत् एक **(पादः)** अंश है और **(अस्य)** इस जगत्-स्रष्टा का **(त्रिपाद्)** तीन अंश **(अमृतम्)** नाशरहित महमिा **(दिवि)** द्योतनात्मक अपने स्वरूप में है॥ ३॥

भावार्थ—सूर्य-चन्द्रादि सब लोक-लोकान्तर और चराचर जितना जगत् है, वह सब चित्र-विचित्र रचना के अनुमान से परमेश्वर के महत्त्व को सिद्ध कर उत्पत्ति, स्थिति और प्रलयरूप से तीनों काल में घटने-बढ़ने से परमेश्वर के एक चतुर्थांश में ही रहता है, इस ईश्वर के चौथे अंश की भी अवधि को नहीं पाता और इस ईश्वर के सामर्थ्य के तीन अंश अपने अविनाशी, मोक्षस्वरूप में सदैव रहते हैं॥ ३॥

इस कथन से ईश्वर का अनन्तपन नहीं बिगड़ता, किन्तु जगत् की अपेक्षा उसका महत्त्व और जगत् का न्यूनत्व जाना जाता है।

हमारे इसी कथन की पुष्टि महीधरजी भी करते हैं। वे लिखते हैं—

यद्यपि 'सत्यं ज्ञानमनन्तं ब्रह्मे' त्याम्नातस्य परब्रह्मण इयत्ताया अभावात् पादचतुष्टयं निरूपयितुमशक्यं तथापि जगदिदं ब्रह्मरूपापेक्षयाल्पमिति विवक्षितत्वात्पादत्वोपन्यासः।

—महीधरभाष्य, यजुः० ३१।३

अर्थ—यद्यपि 'ब्रह्म सत्य, ज्ञानमय और अनन्त है' इत्यादि वेद से प्रतिपादित परब्रह्म के परिमाण के अभाव से उसके चार पाद का निरूपण करना अशक्य है, तथापि यह जगत् ब्रह्म की अपेक्षा अल्प है, यह कहने की इच्छा के कारण पादत्व की कल्पना की है॥ ३॥

अब आप कृपया यह बतलावें कि जब परमात्मा ब्रह्माण्ड के अन्दर तथा बाहर व्यापक है और ब्रह्माण्ड व्याप्य है तो व्याप्य ब्रह्माण्ड के साकार होने से व्यापक परमात्मा भी साकार हो गया, यह कौनसी युक्ति और दलील है। क्या आप कोई ऐसा प्रमाण दे सकते हैं कि जिससे यह सिद्ध हो कि व्याप्य के साकार् होने से व्यापक भी साकार हो सकता है? आपकी यह कल्पना सर्वथा वेदविरुद्ध और असत्य है तथा ईश्वर का निराकार होना ही वेदानुकूल और सत्य है।

तीन प्रकार की साकारता

(६) प्रश्न—ईश्वर व्याप्य-व्यापकत्व, सर्वस्वरूपत्व, अवतारत्व—इन तीन प्रकारों से साकार है।

उत्तर—व्याप्य के साकार होने से व्यापक को साकार नहीं माना जा सकता। ईश्वर इस जगत् का निमित्तकारण है, उपादानकारण नहीं है; उपादानकारण प्रकृति है और ईश्वर के अवतार का वेद ने **'अकायम्'** कहकर स्वयं ही खण्डन कर दिया है, अतः आपकी तीनों प्रकार की साकारता वेदविरुद्ध और मिथ्या है।

व्याप्य-व्यापकत्व साकारता

(७) प्रश्न—एक पण्डित मोहनलाल सज्जन हैं। वास्तव में तो यह फ़र्ज़ी पण्डित मोहनलाल नामशून्य, रूपशून्य, निराकार जीव हैं, निराकार होने पर भी अब यह साढ़े तीन हाथ के शरीर में व्यापक हो गये हैं। यह व्यापक हैं, शरीर व्याप्य है, इसी कारण इनका यह शरीर है, क्योंकि यह सर्वतन्त्र सिद्धान्त है कि 'व्यापक का व्याप्य शरीर होता है' यह शरीर इनका है, घसीटु धोबी का नहीं है, क्योंकि जिसका कल्पित नाम घसीटु धोबी है, वह आत्मा इस शरीर में व्यापक नहीं है, दूसरे शरीर में व्यापक है। जिस शरीर में घसीटु धोबी नामक आत्मा व्यापक है, वह शरीर घसीटु धोबी का है। इसी प्रकार देवदत्त, यज्ञदत्त, विष्णुदत्त आदि नामवाले आत्मा जिस-जिस शरीर में व्यापक हैं, वह-वह उनका शरीर है। अब उत्तम रीति से सिद्ध हो गया कि व्याप्य व्यापक का शरीर होता है।

उत्तर—पण्डित मोहनलाल जीव का नाम नहीं है, क्योंकि 'पण्डित मोहनलाल का जीव निकल गया' ऐसा कहा जाता है और न ही शरीर का नाम पण्डित मोहनलाल है, क्योंकि 'पण्डित मोहनलाल के शरीर को जला दिया' ऐसा कहने में आता है, अतः जीव और शरीर के संयोग का नाम पण्डित मोहनलाल है। जीव शरीर में व्यापक नहीं है, अपितु, एकदेशी है और वह हृदय में रहता है। यदि आप जीव को शरीर में व्यापक मानेंगे तो पुनर्जन्म-अनुसार हाथी का जीव कीड़ी के शरीर में जावेगा तो उसको सुकड़ना पड़ेगा, और कीड़ी का जीव हाथी के शरीर में जावेगा तो उसको फैलना पड़ेगा। ऐसी अवस्था में जीव में संकोच-विकास होने के कारण जीव अनित्य हो जावेगा। व्यापक का व्याप्य शरीर नहीं होता अपितु शरीर शब्द उसमें लाक्षणिक रूप से प्रयोग किया जाता है, क्योंकि शरीर का लक्षण करते हुए न्यायदर्शन में लिखा है कि—

'चेष्टेन्द्रियार्थाश्रयः शरीरम्।' —न्यायदर्शन १।१।११

अर्थ—जो चेष्टा, इन्द्रिय तथा अर्थ का आश्रय हो उसका नाम शरीर है, अर्थात् जिसमें चेष्टा

हो उसका नाम शरीर है। वायु में चेष्टा होने के कारण उसका नाम शरीर न हो जावे, अत: बताया कि जिसमें चेष्टा तथा इन्द्रियाँ दोनों हों उसका नाम शरीर है। तमाशे की कठपुतली में चेष्टा और इन्द्रियाँ दोनों होने के कारण उसका नाम शरीर न हो जावे, इसलिए बतलाया कि जिसमें चेष्टा और इन्द्रियाँ भी हों तथा उन इन्द्रियों के द्वारा दु:ख-सुख, रूप-रस आदि अर्थों का ग्रहण भी किया जाता हो उसका नाम शरीर है। जहाँ इन तीनों बातों में से एक का भी अभाव होगा उसका नाम वास्तविकरूप से शरीर न होगा, अपितु लाक्षणिक रूप से उसमें शरीर शब्द का प्रयोग होगा। न्यायदर्शन १।१।९ के भाष्य में वात्स्यायन मुनि लिखते हैं कि **'भोगायतनं शरीरम्'** जिसमें रहकर जीवात्मा कर्मों का फल भोगता है, उसका नाम शरीर है, अतएव यह लक्षण सर्वथा अशुद्ध है कि 'व्याप्य व्यापक का शरीर होता है।'

(८) प्रश्न—तुम्हारा ईश्वर व्यापक है और पृथिवी, जल, वायु, अग्नि, आकाश व्याप्य हैं। इस कारण पृथिवी, जल, अग्नि, वायु, आकाश तुम्हारे ईश्वर के शरीर हैं।

उत्तर—न तो पृथिवी, जल, अग्नि, वायु, आकाश—ये पाँचों तत्त्व चेष्टा, इन्द्रिय तथा अर्थ का आश्रय हैं और न ही ईश्वर इन पाँचों तत्त्वों के द्वारा दु:ख-सुख आदि कर्मों के फल को भोगता है, अत: इन पाँचों तत्त्वों को ईश्वर का शरीर नहीं कहा जा सकता।

(९) प्रश्न—इसी बात को शतपथ १४।६।७ में **'य: पृथिव्यां तिष्ठन्'** इत्यादि पाँच मन्त्रों द्वारा पृथिवी आदि पाँचों तत्त्वों को ईश्वर का शरीर वर्णन किया है। जब समस्त संसार ईश्वर का शरीर हो गया तो फिर ईश्वर निराकार कैसे रहा? इससे सिद्ध है कि ईश्वर व्याप्य-व्यापकभाव से साकर है।

उत्तर—इस स्थान में शतपथ में पाँच मन्त्रों द्वारा नहीं अपितु ७ से लेकर ३१ तक २५ मन्त्रों द्वारा पृथिवी, जल, अग्नि, आकाश, वायु आदित्य, चन्द्र, तारा, दिशा, विद्युत्, स्तनयित्नु, सर्वलोक, सर्ववेद, सर्वयज्ञ, सर्वभूत, प्राण, वाग्, चक्षु, श्रोत्र, मन:, त्वचा, तेज, तम:, रेत:, आत्मा, इत्यादि में ईश्वर की व्यापकता का वर्णन करते हुए लाक्षणिक रूप से इन वस्तुओं को ईश्वर का शरीर वर्णन किया है, जैसेकि **'ब्राह्मणोऽस्य मुखमासीत्'** [यजुर्वेद ३१।११] में भी लाक्षणिक रूप से ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य, शूद्र को परमात्मा के शरीर के अङ्ग मुख, बाहु, ऊरू, पादरूप में वर्णन किया है। इन वर्णनों से प्रभु की व्यापकता प्रतिपादन करना ही अभिप्राय है। ये वस्तुएँ वास्तव में परमात्मा का शरीर नहीं है, क्योंकि इन वस्तुओं को वास्तव में परमात्मा का शरीर मानने से प्रथम तो वेद से विरोध आवेगा, क्योंकि यजुर्वेद अध्याय ४० मन्त्र ८ में स्पष्ट शब्दों में **'अकायम्'** शब्द से परमात्मा को स्थूल, सूक्ष्म और कारण तीनों प्रकार के शरीरों से रहित वर्णन किया है। ऐसी सूरत में वेद के मुक़ाबले में शतपथ का प्रमाण कोई महत्त्व नहीं रखता, क्योंकि वेद स्वत:प्रमाण और शतपथब्राह्मण परत:प्रमाण है, अत: शतपथ के इस लेख को वेदविरुद्ध होने से मिथ्या ही मानना पड़ेगा। दूसरे, इन वस्तुओं में वास्तविक शरीर के लक्षण मौजूद नहीं हैं। क्या आप यह मानते हैं कि ये वस्तुएँ चेष्टा, इन्द्रिय और अर्थों का आश्रय हैं, अर्थात् परमात्मा जीवात्मा की भाँति इन वस्तुओं द्वारा रूप, रस, गन्ध और स्पर्श, शब्द, सुख-दु:ख आदि भोगों को अनुभव करता है? यदि नहीं तो फिर ये वस्तुएँ परमात्मा का वास्तविक शरीर कैसे मानी जा सकती हैं? शतपथ के इन मन्त्रों का यह अभिप्राय है कि परमात्मा उपर्युक्त सब वस्तुओं में व्यापक है और ये वस्तुएँ अज्ञान के कारण परमात्मा को नहीं जानतीं। ये वस्तुएँ परमात्मा के शरीरवत् हैं, अर्थात् जैसे जीवात्मा शरीर के अन्दर बैठा हुआ शरीर को नियमपूर्वक चलाता है, वैसे ही परमात्मा इन सब वस्तुओं में रहता हुआ उनको नियमपूर्वक चलाता है और अपनी अनन्त शक्ति से इन सब पदार्थों को धारण कर रहा है। वही परमात्मा अमृत, अन्तर्यामी है। इससे सिद्ध हुआ कि व्यापक

परमात्मा निराकार और व्याप्य संसार साकार है।

सर्वस्वरूपत्व साकारता

(१०) प्रश्न—सृष्टि में जितने आकार हैं, वे सब ब्रह्म के स्वरूप हैं। समस्त रूप ब्रह्म के रूप से बने हैं और अन्त में समस्त ही रूप ईश्वर में लय होंगे।

उत्तर—आपका यह कथन वेदविरुद्ध होने से मिथ्या है, क्योंकि संसार में जितने स्थूल पदार्थ हैं, वे प्रकृति के स्वरूप हैं, ब्रह्म के नहीं, अर्थात् इस संसार का उपादानकारण प्रकृति है, ब्रह्म नहीं, क्योंकि यदि इस सृष्टि का उपादानकारण ब्रह्म को माना जावे तो **'कारणगुणपूर्वकः कार्यगुणो दृष्टः।'** [वैशेषिक० २।१।२४] अर्थात् उपादानकारण के गुण कार्य में अवश्य आते हैं, इस नियम से ब्रह्म के चैतन्यता, सर्वज्ञता आदि गुण पृथिवी आदि समस्त पदार्थों में विद्यमान होने चाहिएँ, या यह मानना पड़ेगा कि ब्रह्म में भी जड़ता आदि गुण विद्यमान हैं, अतः सिद्ध हुआ कि सृष्टि का उपादानकारण प्रकृति, निमित्तकारण ब्रह्म तथा साधारणकारण जीव है। ये तीनों ही अनादि हैं, जैसाकि वेद ने स्पष्टरूप से वर्णन किया है—

द्वा सुपर्णा सयुजा सखाया समानं वृक्षं परि षस्वजाते।
तयोरन्यः पिप्पलं स्वाद्वत्त्यनश्नन्नन्यो अभि चाकशीति॥

—ऋ० मं० १। सू० १६४। मं० २०

अर्थ—ब्रह्म और जीव दोनों चेतनता और पालनादि गुणों से सदृश, व्याप्य-व्यापकभाव से संयुक्त, परस्पर मित्रतायुक्त, सनातन, अनादि हैं और वैसा ही अनादि मूलरूप कारण और शाखारूप कार्ययुक्त वृक्ष अर्थात् जो सूक्ष्म होकर प्रलय में छिन्न-भिन्न हो जाता है, वह तीसरा अनादि पदार्थ—इन तीनों के गुण-कर्म-स्वभाव भी अनादि हैं। इन जीव और ब्रह्म में से एक जो जीव है, वह इस वृक्षरूप संसार में पाप-पुण्यरूप फलों को अच्छे प्रकार भोगता है और दूसरा परमात्मा कर्मों के फलों को न भोगता हुआ चारों ओर, अर्थात् भीतर-बाहर सर्वत्र प्रकाशमान हो रहा है। जीव से ईश्वर, ईश्वर से जीव, और दोनों से प्रकृति भिन्नस्वरूप तथा तीनों अनादि हैं। इससे सिद्ध है कि इस सृष्टि का न ब्रह्म उपादानकारण है और न ही यह सृष्टि ईश्वर में लय होगी।

(११) प्रश्न—जब हम पृथिवी के बनने की खोज उठाते हैं, तो पता चलता है कि पृथिवी जल से बनी है, वास्तव में पृथिवी कोई चीज़ नहीं है। पृथिवी की सत्ता कोई भिन्न सत्ता नहीं है, किन्तु जल-सत्ता का कठिन रूप पृथिवी कहलाती है।

उत्तर—हम ऊपर वेद का प्रमाण देकर सिद्ध कर चुके हैं कि प्रकृति अनादि है और सूक्ष्म परमाणुरूप पृथिवी, जल, अग्नि, वायु तथा आकाश इन पाँच सूक्ष्म तत्त्वों का नाम ही प्रकृति है। इनमें से कोई एक-दूसरे से नहीं बना अपितु, प्रथम चार के सूक्ष्म परमाणु तथा आकाश ये पाँचों तत्त्व सूक्ष्म रूप से अनादि, हैं। पृथिवी का स्वाभाविक गुण **'व्यवस्थितः पृथिव्यां गन्धः'** [वै० २।२।२] गन्ध है, तथा जल का स्वाभाविक गुण **'अप्सु शीतता'** [वै० २।२।५] शीतलता है। यदि जल से ही पृथिवी बनी है, तो पृथिवी में गन्ध गुण कहाँ से आ गया, क्योंकि जल में तो गन्ध मौजूद नहीं था। यदि कहो कि अभाव से भाव हो गया तो यह बात असम्भव है, क्योंकि **'नासतो विद्यते भावो नाभावो विद्यते सतः।'**—भगवद्गीता २।१६। अभाव से भाव तथा भाव से अभाव नहीं होता, अतः सिद्ध हुआ कि पृथिवी जल से नहीं बनी, अपितु पृथिवी तत्त्व स्वतन्त्र अनादि काल से वर्त्तमान है और जल का कठिन रूप भी बर्फ की शकल में ही बन सकता है, पृथिवीरूप में नहीं बन सकता।

(१२) प्रश्न—अग्नि में संचलन उत्पन्न होने से जल बनता है, अग्नि का रूपान्तर ही जल है।

उत्तर—आपकी यह बात वेद तथा शास्त्र के विरुद्ध होने से अप्रमाण है, क्योंकि जल का स्वाभाविक गुण शीतलता है और अग्नि का स्वाभाविक गुण **'तेजो रूपस्पर्शवत्'** [वै० २।१।३] रूप है और अग्नि में स्पर्श वायु के योग से है। यदि अग्नि से ही जल बना है तो जल में शीतलता कहाँ से आई, जबकि अग्नि में शीतलता मौजूद नहीं है और अभाव से भाव का होना असम्भव है? इससे सिद्ध हुआ कि जल की उत्पत्ति अग्नि से नहीं हुई। अपितु जल तत्त्व स्वतन्त्रता से अनादिकाल से मौजूद है। वह अग्नि का रूपान्तर नहीं है।

(१३) प्रश्न—दो विरुद्ध धर्मवाले वायु के मिलने से अग्नि उत्पन्न होता है, अग्नि कोई पृथक् चीज़ नहीं है। वायु का दूसरा रूप ही अग्नि है।

उत्तर—आपकी यह बात भी वेदविरुद्ध होने से मिथ्या है। कृपया यह तो बतलावें कि वे विरुद्ध गुणवाले दो वायु कौन-कौन-से हैं जिनसे अग्नि की उत्पत्ति होती है और इसमें किस वेदशास्त्र का प्रमाण है, क्योंकि वैशेषिक शास्त्र में तो एक ही प्रकार का **'स्पर्शवान् वायुः।'** [वै० २।१।४] ऐसा लिखा है। वायु का स्वाभाविक गुण स्पर्श है। यदि वायु से ही अग्नि बना है तो अग्नि का जो स्वाभाविक गुण रूप है वह कहाँ से आया जबकि वायु में रूपगुण मौजूद ही नहीं है, और अभाव से भावका होना असम्भव है? इससे सिद्ध है कि वायु का ही रूपान्तर अग्नि नहीं है, अपितु अग्नि पृथक् तत्त्व अनादिकाल से मौजूद है।

(१४) प्रश्न—आकाश के जो सूक्ष्म परमाणु हैं उनमें जब संचालनशक्ति उत्पन्न होती है तो आकाश के सूक्ष्म परमाणु कुछ कठोर हो जाते हैं और वे धक्का देने लगते हैं। इसी का नाम वायु है। प्रत्यक्ष में आप हाथ में पंखा ले-लीजिए और उसको हिलाइए, पंखे के हिलने से आकाश के परमाणुओं में संचालनशक्ति उत्पन्न हो जावेगी। वे परमाणु धक्का देंगे, वही वायु कहलावेगा। सिद्ध हुआ कि वायु कोई भिन्न सत्तावाला पदार्थ हीं है, किन्तु आकाश का रूपान्तर है।

उत्तर—धन्य हो महाराज! यहाँ पर तो आपने फ़िलासफ़ी की टाँग ही तोड़ दी। वह कौन-सा वेद तथा शास्त्र है जो आकाश के परमाणु मानता है? या यह नया शास्त्र आपके ही कार्यालय से कल्पित होने लगा है? श्रीमान्‌जी! आकाश के परमाणु नहीं होते; आकाश तो अवकाश अर्थात् पोल का नाम है। पंखे के हिलाने से आकाश के परमाणु हरकत में नहीं आते, अपितु आकाश में जो सूक्ष्मरूप से वायु भरा हुआ है, वही पंखे के चलाने से इकट्ठा हो जाता है। यदि आकाश में वायु न हो तो पंखा न चलानेकी सूरत में भी जो आपको साँस आ रहा है, वह कहाँ से आता है? क्या कहीं आकाश के परमाणु ही तो अन्दर नहीं चले जाते? पक्षपात भी बुरी बला है। इन्सान को अन्धा कर देता है। न आकाश के परमाणु होते हैं, न ही उनमें हरकत होने तथा कठोर होने से वायु पैदा होती है, अपितु वायु एक पृथक् तत्त्व अनादिकाल से मौजूद है। यदि आकाश से ही वायु की पैदाइश मानी जावे तो वायु का स्वाभाविक गुण स्पर्श है तथा **'त आकाशे न विद्यन्ते।'** [वै० २।१।५] रूप, रस, गन्ध, और स्पर्श आकाश में नहीं है, किन्तु शब्द ही आकाश का गुण है। फिर स्पर्श गुण वायु में कहाँ से आया जबकि अभाव से भाव होता ही नहीं? अतः आपकी सम्पूर्ण कल्पना मिथ्या और वेदविरुद्ध होने से अप्रमाण है।

(१५) प्रश्न—सर्वोपरि विज्ञान वैदिक ज्ञान बतलाता है कि वह जो निराकार ब्रह्म है, जहाँ पर सृष्टि नहीं है, जिसको अमृत कहा है, उससे और यह जो दृश्य ब्रह्माण्डरूप ईश्वर है—इससे आकाश उत्पन्न होता है।

उत्तर—महाशयजी! यहाँ पर तो आप चौकड़ी ही भूल गये। आप वर्णन तो कर रहे हैं आकाश की उत्पत्ति का और वायु, अग्नि, जल, पृथिवी अभी पैदा ही नहीं हुए, क्योंकि वे तो आपके सिद्धान्त-अनुसार आकाश से ही क्रमशः पैदा होने हैं। फिर वह दृश्य ब्रह्माण्ड कहाँ से

आ गया जिसको निराकार ब्रह्म से मिलाकर आकाश की उत्पत्ति कर रहे हैं? क्या यहाँ **'अन्योऽन्याश्रयदोष'** तो नहीं आता? क्या आपका यही सर्वोपरि विज्ञान वैदिक ज्ञान है? कृपया वेदों को भी अपनी मिथ्या कल्पनाओं से कलंकित न कीजिएगा। यदि आप ब्रह्म से ही आकाश की पैदाइश मानते हैं, तो बतलावें कि आकाश में जड़त्व कहाँ से आया, क्योंकि ब्रह्म तो चेतन है और अभाव से भाव होता नहीं। या यह मानें कि ब्रह्म भी जड़ है? सारांश यह कि आपकी सम्पूर्ण कल्पनाएँ सर्वथैव मिथ्या हैं। आकाश ब्रह्म से पैदा नहीं हुआ, अपितु आकाश एक पृथक् पदार्थ अनादिकाल से मौजूद है।

(१६) प्रश्न—अब सिद्ध हो गया कि संसार में जितने रूप हैं वे सब ब्रह्म के रूप से उत्पन्न हुए हैं। इससे सिद्ध है कि ईश्वर सर्वस्वरूपत्वभाव से साकार है।

उत्तर—अब सिद्ध हो गया कि संसार में जितने रूप हैं वे सब अनादि प्रकृति के रूप हैं, ब्रह्म के नहीं, क्योंकि ब्रह्म और जीव से भिन्न अनादि प्रकृति संसार में मौजूद है। हमारे दिये हुए वेदमन्त्र तथा सिद्धान्त की पुष्टि अनेक प्रमाणों से होती है। उदाहरणार्थ **'न तस्य कार्यं करणं च विद्यते'** [श्वेताश्वतर उपनिषद् अ० ६, मं० ८] परमात्मा से कोई तद्रूप कार्य और उस परमात्मा का कोई कारण भी नहीं है। पाँच तत्त्वों का नाम प्रकृति है। उनमें से आकाश तो अनादि, नित्य, एकरस है तथा वायु, अग्नि, जल और पृथिवी ये चारों प्रत्येक दो प्रकार के हैं—एक तो कारणरूप जो सूक्ष्म तथा अनादि हैं, दूसरे कार्यरूप स्थूल जो दृश्य हैं, वे अनित्य हैं। जैसे—

पृथिव्यादिरूपरसगन्धस्पर्शा द्रव्यानित्यत्वादनित्याश्च॥ २॥
एतेन नित्येषु नित्यत्वमुक्तम्॥ ३॥ —वै० ७।१।२,३

अर्थ—जो कार्यरूप पृथिव्यादि और उनमें रूप, रस, गन्ध, स्पर्श, गुण हैं, ये सब द्रव्यों के अनित्य होने से अनित्य हैं॥ २॥ इससे कारणरूप पृथिव्यादि नित्य द्रव्यों में जो गन्धादिगुण हैं, वे नित्य हैं॥ ३॥ **'सदकारणवन्नित्यम्'** [वै० ४।१।१] जो विद्यमान हो और जिसका कारण कोई भी न हो वह नित्य है, अतः ये सब रूप पाँच तत्त्वस्वरूप अनादि प्रकृति के हैं, ब्रह्म के नहीं हैं। इससे सिद्ध हुआ कि परमात्मा निराकार है। सर्वस्वरूपत्वभाव से साकार नहीं है।

(१७) प्रश्न—वेद में **'तस्मादेतस्मादात्मनः'** इत्यादि [तैत्ति० १ ब्रह्मा० वल्ली अनु० १] आता है कि उस अदृश्य ब्रह्म से तथा इस दृश्य ब्रह्म से आकाश उत्पन्न हुआ, आकाश से वायु, वायु से अग्नि, अग्नि से जल और जल से पृथिवी उत्पन्न हुई।

उत्तर—प्रथम तो आपने वेद का नाम लेकर तैत्तिरीयोपनिषद् का प्रमाण देकर जनता को धोखे में डाला है, क्योंकि तैत्तिरीय उपनिषद् स्वतःप्रमाण नहीं हैं। दूसरे आपने यह मन्त्र भी पूरा नहीं दिया अधूरा दिया है। तीसरे, आप आकाश की उत्पत्ति से पूर्व दृश्य ब्रह्म पता नहीं कहाँ से ले-आये। हाँ, यदि दृश्य ब्रह्म से आपका अभिप्राय अनादि प्रकृति से हो तो फिर आपके मत से ईश्वर की सर्वस्वरूपता खटाई में पड़ जाती है। चौथे, आपने 'योग्यता' का ध्यान न रखते हुए सब स्थानों में पंचमी विभक्ति का अर्थ 'से' ही लगाया है, हालाँकि पञ्चमी का अर्थ 'पश्चात्' भी होता है। इस प्रकार से आपका लेख सर्वथा दूषित और वेदविरुद्ध है। हम इस प्रमाण का पूरा पाठ और वेदानुकूल अर्थ नीचे दर्ज करते हैं, ध्यानपूर्वक पढ़िए—

तस्माद्वा एतस्मादात्मन आकाशः संभूतः। आकाशाद्वायुः। वायोरग्निः। अग्नेरापः। अद्भ्यः पृथिवी। पृथिव्या ओषधयः। ओषधिभ्यो अन्नम्। अन्नाद्रेतः। रेतसः पुरुषः। स वा एष पुरुषोऽन्नरसमयः॥ —तैत्तिरीयोपनि० ब्रह्मानन्दवल्ली अनु० १

भावार्थ—उस (निमित्तकारण) परमेश्वर और (उपादानकारण) प्रकृति से आकाश, अवकाश अर्थात् जो कारणरूप द्रव्य सर्वत्र फैल रहा था, उसको इकट्ठा करने से अवकाश उत्पन्न-सा होता

है। वास्तव में आकाश की उत्पत्ति नहीं होती, क्योंकि बिना अवकाश के प्रकृति और परमाणु कहाँ ठहर सकें? आकाश के पश्चात् वायु, वायु के पश्चात् अग्नि, अग्नि के पश्चात् जल, जल के पश्चात् पृथिवी, पृथिवी से ओषधि, ओषधियों से अन्न, अन्न से वीर्य, वीर्य से पुरुष अर्थात् शरीर उत्पन्न होता है। इस प्रमाण से आपकी सर्वस्वरूपता से ईश्वर की साकारता की सिद्धि सर्वथा असम्भव है।

(१८) प्रश्न—पुष्पदन्त ने भी **'त्वमर्कस्त्वं सोमः'** इत्यादि लेख से सूर्य-चन्द्रमा आदि को ईश्वर ही बतलाया है।

उत्तर—कहिए महाराज! आपने इस पुष्पदन्त के लेख को वेद के नाम से क्यों दर्ज नहीं किया। आपने तो ऐरा-ग़ैरा नत्थू ख़ैरा प्रत्येक के लेख को वेद कहने का ठेका ले-रक्खा है, फिर पुष्पदन्त के लेख पर यह क्रूर दृष्टि क्यों? अच्छा, अब यह बतलाने की कृपा करें कि यह पुष्पदन्तजी हैं कौन? क्या यह कोई पौराणिक ऋषि हैं या कोई सनातनधर्म के अवतार हैं? यदि यह कुछ भी नहीं तो फिर इनका लेख वेद के मुक़ाबले में क्या हैसियत रखता है, अतः हम इसपर कुछ लिखकर अपने काग़ज़ और स्याही का दुरुपयोग करना बुद्धिमत्ता नहीं समझते।

(१९) प्रश्न—यजुर्वेद अध्याय ३२ मन्त्र १ में भी **'तदेवाग्निस्तदादित्यः'** इत्यादि मन्त्र से अग्नि, सूर्य आदि को ब्रह्म ही वर्णन किया है।

उत्तर—आपको जो सूझती है उलटी ही सूझती है। इस मन्त्र में अग्नि, सूर्य आदि को ब्रह्म नहीं बतलाया अपितु यह बतलाया है कि परमेश्वर में अनेक गुण होने के कारण अग्नि, आदित्य आदि ईश्वर के अनेक नाम हैं। देखिए—

तदेवाग्निस्तदादित्यस्तद्वायुस्तदु चन्द्रमाः।
तदेव शुक्रं तद् ब्रह्म ता आपः स प्रजापतिः॥ —यजुः० ३२।१

पदार्थ—हे मनुष्यो! **(तत्)** वह सर्वज्ञ, सर्वव्यापी, सनातन, अनादि, सच्चिदानन्दस्वरूप, नित्य, शुद्धबुद्ध, मुक्तस्वभाव, न्यायकारी, दयालु, जगत् का स्रष्टा, धारणकर्ता और सबका अन्तर्यामी **(एव)** ही **(अग्निः)** ज्ञानस्वरूप और स्वयं प्रकाशित होने से अग्नि **(तत्)** वह **(आदित्यः)** प्रलय-समय सबको ग्रहण करने से आदित्य **(तत्)** वह **(वायुः)** अनन्त बलवान् और सबका धारक होने से वायु है। **(तत्)** वह **(चन्द्रमाः)** आनन्दस्वरूप और आनन्दकारक होने से चन्द्रमा **(तत् एव)** वही **(शुक्रम्)** शीघ्रकारी वा शुद्धभाव से शुक्र **(तत्)** वह **(ब्रह्म)** महान् होने से ब्रह्म **(ताः)** वह **(आपः)** सर्वत्र व्यापक होने से आपः **(उ)** और **(सः)** वह **(प्रजापतिः)** सब प्रजा का स्वामी होने से प्रजापति है, ऐसा तुम लोग जानो।

यहाँ पर ईश्वर के अनेक नामों का वर्णन होने से साकारता की गन्ध भी नहीं है।

(२०) प्रश्न—यह समस्त संसार ईश्वर से उत्पन्न हुआ है, और इस संसार का **'अभिन्ननिमित्तोपादानकारण'** ईश्वर है, अतएव संसार में छोटे-बड़े जितने रूप हैं, वे सब ईश्वर के रूप हैं।

उत्तर—इस संसार का **'अभिन्ननिमित्तोपादानकारण'** ईश्वर नहीं है, अपितु इस संसार का उपादानकारण प्रकृति है और ईश्वर निमित्तकारण तथा जीव साधारणकारण है। प्रकृति की नित्यता तथा उपादानकारण होने को वेद इस प्रकार से वर्णन करता है—

एषा सनत्नी सनमेव जातैषा पुराणी परि सर्वं बभूव।
मही देव्युषसो विभाती सैकेनैकेन मिषता वि चष्टे॥
—अथर्व० १०।८।३०

भावार्थ—यह सदा रहनेवाली नित्य प्रकृति सदा ही कार्य उत्पन्न करती रहती है, यह पुराणी

प्रकृति सब कार्यों में पूर्णतया रहती है। यह बड़ी तथा कान्तिमयी है तथा कमनीय पदार्थों को विशेष रीति से प्रकाशित करनेवाली है। वह प्रकृति प्रत्येक गतिशील जीव के साथ अपने स्वरूप का कथन कर रही है।

सिद्ध हुआ कि संसार में छोटे-बड़े जितने रूप हैं वे सब प्रकृति के हैं, ईश्वर के नहीं हैं।

(२१) प्रश्न—'द्वावेव ब्रह्मणो रूपे' इत्यादि बृहदारण्यक में भी इस तत्त्वात्मक जगत् को ब्रह्म का रूप बतलाया है। —पृ० १६०, मं० १७

उत्तर—यहाँ पर ब्रह्म नाम ईश्वर का नहीं है, अपितु प्रकृति से बने हुए जगत् का नाम ब्रह्म है। यह बात पुस्तक के पाठ से स्पष्ट हो जाती है। जैसे—

द्वे वाव ब्रह्मणो रूपे मूर्त्तं चैवामूर्त्तं च। तदेतन्मूर्त्तं यदन्यद्वायोश्चान्तरिक्षात्।
अथामूर्त्तं वायुश्चान्तरिक्षम्॥ —बृह० अ० २, कं० १-३

अर्थ—उपादानकारण प्रकृति से निमित्तकारण ब्रह्म ने जो जगत् पैदा यिा है, उसके दो रूप हैं—एक मूर्त्त, दूसरा अमूर्त्त। वह यह मूर्त्त है जो वायु और आकाश से भिन्न है, अर्थात् पृथिवी, जल तथा अग्नि मूर्त्त हैं, और वायु तथा आकाश अमूर्त्त।

प्रथम, यहाँ पर पृथिवी, जल, अग्नि को साकार तथा वायु और आकाश को निराकार वर्णन करने से स्पष्ट है कि बृहदारण्यक ने प्रकृति के ही दो रूप वर्णन किये हैं, ब्रह्म के नहीं।

दूसरे, आपने बृहदारण्यक के पाठ को श्रुति अर्थात् वेद के नाम से लिखकर बड़ा अनर्थ किया है, क्योंकि बृहदारण्यक उपनिषद् है वेद नहीं हैं, और परत:प्रमाण है।

तीसरे, आपने पृ० १५६ पं० ३ तथा ७ में लिखा है कि 'ईश्वर के जिन तीन हिस्सों में तत्त्वों की रचना नहीं हुई वहाँ पर ईश्वर निराकार है और ईश्वर के जितने अंश में ब्रह्माण्ड बन गये उतने अंश में ईश्वर साकार है।' इस लेख के अनुसार भी यहाँ पर कार्यरूप जगत् का ही वर्णन है। हाँ, आपके दोनों लेखों में परस्पर विरोध भी है।

इस प्रमाण में भी इस तत्त्वात्मक जगत् को प्रकृति का ही रूप बतलाया है, ब्रह्म अर्थात् परमात्मा का नहीं।

(२२) प्रश्न—'पुरुष एवेदꣳ सर्वम्' [यजुः० ३१।२] में भी सब भूत, भविष्यत्, वर्त्तमान जगत् को ब्रह्म ही बतलाया है। —पृ० १६०, मं० २५

उत्तर—इस मन्त्र में जगत् को ब्रह्म नहीं, अपितु ब्रह्म को जगत् का पैदा करनेवाला वर्णन किया है, जैसाकि—

पुरुष एवेदꣳ सर्वं यद् भूतं यच्च भाव्यम्।
उतामृतत्वस्येशानो यदन्नेनातिरोहति॥ —यजुः० ३१।२

भाषार्थ—हे मनुष्यो! जो अत्पन्न हुआ और जो उत्पन्न होनेवाला और जो पृथिवी आदि के सम्बन्ध से अत्यन्त बढ़ता है उस इस प्रत्यक्ष, परोक्षरूप समस्त जगत् को अविनाशी, मोक्षसुख वा कारण का अधिष्ठाता, सत्य गुण-कर्म-स्वभावों से परिपूर्ण परमात्मा ही रचता है॥ २॥

उव्वट का अर्थ भी आपके अर्थ की पुष्टि नहीं करता, देखिए—

स एव पुरुषः पूर्वपर्यायविशेषित एव शब्दो नान्यः। इदं वर्त्तमानकं सर्वं यच्च भूतमतीतं यच्च भाव्यं भविष्यत् तस्य कालत्रयस्य ईशानः। न केवलं कालत्रयस्य ईशानः। उत अमृतत्वस्यापि मोक्षस्यापि। उत शब्दोऽपि शब्दार्थे। कस्मात्कारणात्? यदन्नेनामृतेन अति रोहति अतिरोधं करोति। सर्वस्येश्वर इति॥ ३१।२॥

भावार्थ—वह पूर्व वर्णन किया हुआ अनन्य परमात्मा इस सम्पूर्ण वर्त्तमान, भूत तथा भविष्यत्

तीनों कालों का स्वामी है। केवल तीन कालों का ही स्वामी नहीं है, अपितु मोक्ष का भी स्वामी है, किस कारण से कि जो अमृत से बढ़ाता है। सारांश यह कि वह सबका स्वामी है।

आपने अधूरा मन्त्र देकर वास्तविक अर्थ को छिपाने का यत्न किया, किन्तु हमने पूरा मन्त्र देकर आपकी चालाकी का भाँडा सरे बाज़ार फोड़ दिया। उव्वट ने भी परमात्मा को सबका ईश्वर मानकर ब्रह्म से भिन्न जीव और प्रकृति को स्वीकार करके आपके सिद्धान्त का खण्डन कर दिया है।

(२३) प्रश्न—जब वेद संसार के समस्त रूपों को ब्रह्म के रूप कह रहा है, फिर उसे निराकार कहना मूर्खता नहीं तो क्या है? —पृ० १६०, पं० ११

उत्तर—वेद संसार के समस्त रूपों को प्रकृति के रूप बतलाता है, ब्रह्म के नहीं। संसार का उपादानकारण अनादि प्रकृति है, ब्रह्म नहीं। हम प्रकृति के अनादि होने के कई मन्त्र पेश कर चुके हैं, एक मन्त्र और पेश करते हैं—

अजारे पिशङ्गिला श्वावित्कुरुपिशङ्गिला।
शश आस्कन्दमर्षत्यहिः पन्थां वि सर्पति॥ —यजुः० २३।५६

भाषार्थ—हे विद्वन्! जन्मरहिता प्रकृति प्रलयकाल में रूपों को निगलनेवाली है। संसारावस्थापन्न होकर कार्यों के रूपों को प्रकट करनेवाली होती है। चतुर, ज्ञानी पुरुष प्रकृति के बन्धन से परे हो जाता है और सर्पवत् कुटिलस्वभाव मनुष्य जन्म-मरण-मार्ग पर विविध रीतियों से जन्म-मरण के चक्र में पड़ जाता है।

इस मन्त्र पर भाष्य करते हुए महीधर भी प्रकृति को अनादि मानते हैं, जैसे—

अजा पिशङ्गिला अजा नित्या माया रात्रिर्वा पिशङ्गिला पिशं रूपं गिलति भक्षयति पिशङ्गिला माया विश्वं ग्रसते। रात्रावपि रूपाणि न प्रतीयन्ते तमसा॥ —महीधर० २३।५६

भाषार्थ—अजा नाम अनादि प्रकृति या रात्रि का है। इन दोनों को पिशङ्गिला भी कहते हैं। प्रकृति को तो इसलिए पिशङ्गिला कहते हैं कि वह सारे संसार को निगल लेती है और रात्रि को पिशङ्गिला इसलिए कहते हैं कि रात्रि में भी अँधेरे के कारण पदार्थों की प्रतीति नहीं होती।

जब वेद से स्पष्ट हो गया कि प्रलयकाल में सारा जगत् प्रकृति में लय हो जाता है तब स्पष्ट है कि वेद सारे संसार की प्रकृति से ही उत्पत्ति मानता है। फिर आपका यह लेख कि 'समस्त रूप ब्रह्म के रूप से बने हैं और अन्त में समस्त रूप ईश्वर में लय होंगे' वेद के सर्वथा विरुद्ध और मिथ्या सिद्ध हो गया। अतएव परमात्मा का सर्वस्वरूपत्व से साकार होना वेदविरुद्ध होने से मिथ्या तथा परमात्मा का निराकार होना वेदानुकूलता से सत्य सिद्धान्त है।

अवतारत्व साकारता

(२४) प्रश्न—ईश्वर का अवतार धारण करना वेद ने बड़े विस्तृत रूप से लिखा है।
—पृ० १६१, मन्त्र ८

उत्तर—वेद में परमात्मा को **(अकायम्)** शरीररहित **(अस्नाविरम्)** नाड़ी और नस के बन्धन से रहित वर्णित किया है—यह हम पहले दिखा चुके हैं। वेद ने बड़े विस्तार से परमात्मा को अजन्मा प्रतिपादित किया है। वेद में एक भी मन्त्र ऐसा नहीं है जो परमात्मा के जन्म लेने का अनुमोदन करता हो, अपितु अनेक मन्त्र परमात्मा के जन्म लेने का निषेध करते हैं, जैसे—

अजो न क्षां दाधार पृथिवीं तस्तम्भ द्यां मन्त्रेभिः सत्यैः।
प्रिया पदानि पश्वो नि पाहि विश्वायुरग्ने गुहा गुहं गाः॥
—ऋ० १।६७।३

भाषार्थ—जैसे न जन्मनेवाला परमेश्वर न टूटनेवाले विचारों से पृथिवी को धारण करता है, विस्तृत अन्तरिक्ष तथा द्युलोक अथवा सूर्यादि तेजस्वी पदार्थों को गिरने से रोकता है, प्रीतिकारक प्राप्तव्य पदार्थों को देता है, सम्पूर्ण आयु देनेवाला बन्धन से सर्वथा छुड़ाता है। बुद्धि में स्थित हुआ वह गुह्य पदार्थों को जानता है, वैसे ही हे विद्वान् जीव! तू भी हमें अज्ञान आदि से छुड़ाकर प्राप्तव्य की प्राप्ति करा।

इत्यादि अनेक मन्त्र परमात्मा के जन्म का निषेध करते हैं।

यह तो रही वेद की बात। अब आप कृपा करके यह बतावें कि परमात्मा को जन्म लेने की क्यों ज़रूरत पड़ती है और आपके मत में जब परमात्मा के सर्वव्यापक होने से सारा ब्रह्माण्ड ही उसका शरीर है, तो परमात्मा को एक तुच्छ शरीर और धारण कराने में क्या लाभ होता है? फिर जब आपके मतानुसार सारे ही रूपधारी पदार्थ भी ब्रह्म ही हैं तो फिर अवतार में क्या विशेषता रही? जब ब्रह्म से भिन्न कोई पदार्थ ही संसार में नहीं, तो फिर कौन, किसके गर्भ में प्रवेश करके जन्म लेकर किसकी रक्षा करता है? ऐसी सूरत में यों कहना पड़ेगा कि 'ब्रह्म, ब्रह्म के, ब्रह्म में प्रवेश करके जन्म लेकर ब्रह्म को मारकर, ब्रह्म की रक्षा करता है' यह क्या गोरखधन्धा है, समझाने की कृपा करें।

(२५) प्रश्न—'**एषो ह देवः।**' [यजुः० ३२।४] इस मन्त्र में ईश्वर का गर्भ में आना और जन्म लेना उत्तम रीति से कहा है। —पृ० १६१, मं० १०

उत्तर—इस मन्त्र में परमात्मा के जन्म लेने का लेशमात्र भी वर्णन नहीं है। आपने मन्त्र के मनमाने अर्थ करके स्वार्थ-सिद्धि की है। कृपया बतलावें कि आपने '**दृश्यमान**' अर्थ मन्त्र के कौन-से पद का किया है। फिर जो परमात्मा समस्त दिशाओं में व्यापक है वह गर्भ में आया कहाँ से? क्या वह गर्भ में व्यापक नहीं था। इसलिए आपका किया हुआ मन्त्रार्थ स्वयं वेद के अभिप्राय के विरुद्ध है। पूरा मन्त्र और ठीक अर्थ इस प्रकार से है—

एषो ह देवः प्रदिशोऽनु सर्वाः पूर्वो ह जातः स उ गर्भे अन्तः।
स एव जातः स जनिष्यमानः प्रत्यङ् जनास्तिष्ठति सर्वतोमुखः॥ —यजुः० ३२।४

भाषार्थ—हे विद्वानो! यह प्रसिद्ध परमात्मा उत्तमस्वरूप, सब दिशा और विदिशाओं में अनुकूलता से व्यापक होकर वही अन्तःकरण के बीच प्रथम कल्प के आदि में प्रसिद्ध, प्रकटता को प्राप्त हुआ। वही प्रसिद्ध हुआ। वह आगामी कल्पों में प्रथम प्रसिद्धि को प्राप्त होगा। सब ओर से मुखादि अवयवोंवाला अर्थात् सर्वत्र मुखादि इन्द्रियों के काम करता हुआ प्रत्येक पदार्थ को प्राप्त हुआ अचल, सर्वत्र स्थिर है। वही तुम लोगों को उपासना करने और जानने योग्य है।

भावार्थ—यह पूर्वोक्त ईश्वर जगत् को उत्पन्न कर प्रकाशित हुआ सब दिशाओं में व्याप्त होके इन्द्रियों के बिना, सब इन्द्रियों के काम सर्वत्र व्याप्त होने से करता हुआ सब प्राणियों के हृदय में स्थिर है। वह भूत, भविष्यत् कल्पों में जगत् की उत्पत्ति के लिए पहिले प्रकट होता है। वह ध्यानशील मनुष्य के जानने योग्य है, अन्य के जानने योग्य नहीं है।

वेद में '**उत नो ऽ हिर्बुध्न्यः शृणोत्वज एकपात्।**' [ऋ० ६।५०।१४] तथा '**शं नो अज एकपाद्देवः।**' [ऋ० ७।३५।१३] इत्यादि अनेक मन्त्र परमात्मा के जन्म का निषेध करते हैं, अतः पूर्व मन्त्र का अर्थ भी वेद के अन्य मन्त्रों के अनुकूल होने से हमारा किया हुआ अर्थ सत्य है और आपका अर्थ अन्य वेदमन्त्रों के तथा उसी वेदमन्त्र के विरुद्ध होने से मिथ्या है, अतः सिद्ध हुआ कि परमात्मा जन्म धारण नहीं करता।

कृपया यह बतलावें कि जिन राम, कृष्ण आदि को आप परमात्मा का अवतार मानते हैं उनके शरीरों में जीवात्मा भी था या केवल परमात्मा ही था। यदि जीवात्मा भी था। तो दूसरे मनुष्यों

में तथा अवतारों में क्या भेद हुआ? और यदि उनके शरीर में केवल परमात्मा ही था तो परमात्मा ने कौन-सा बुरा काम किया था कि जिसके बदले परमात्मा को रामादि का शरीर धारण करना पड़ा, जैसेकि श्रीराम स्वयं कहते हैं कि—

किं मया दुष्कृतं कर्म कृतमन्यत्र जन्मनि॥ १९॥
येन मे धार्मिको भ्राता निहतश्चाग्रतः स्थितः॥ २०॥

—वाल्मीकि० युद्ध० स० १०१

अर्थ—मैंने दूसरे जन्म में कौन-सा ऐसा बुरा कर्म किया है कि जिसके कारण मेरा धार्मिक भाई मेरे सामने मरा हुआ पड़ा है।

(२६) प्रश्न—'प्रजापतिश्चरति' [यजुः० ३१।१९] इत्यादि मन्त्र से ईश्वर का गर्भ में आना और जन्म धारण करना सिद्ध है। —पृ० १६१, मं० १९

उत्तर—आपका अर्थ क्या है, चूँ-चूँ का मुरब्बा है, जिसमें परस्पर-विरोध भरा पड़ा है। आपने इस अर्थ से ईश्वर को जन्म धारण करनेवाला साकार सिद्ध करने का यत्न किया है, किन्तु आपका परिश्रम व्यर्थ है। आप अपने अर्थ को ध्यानपूर्वक पढ़कर उत्तर दें कि यदि उस परमेश्वर में सब ब्रह्माण्ड ठहरे हुए हैं, अर्थात् वह सारे संसार में परिपूर्ण होकर व्यापक है, तो वह विशाल और व्यापक ईश्वर जिसमें सारे ब्रह्माण्ड ठहरे हुए हैं, छोटे-से गर्भ में कैसे समा गया और गर्भ में आया कहाँ से? क्या वह गर्भ में व्यापक न था? और क्या गर्भ उसमें ठहरा हुआ न था? कैसी बेतुकी बात है कि 'सब ब्रह्माण्डों में व्यापक ईश्वर गर्भ में आता है।' क्योंजी, जब वह अजन्मा है तो फिर वह बहुत प्रकार से जन्म कैसे धारण करता है? क्या दो विरुद्ध गुण किसी द्रव्य में रह सकते हैं? यदि आप कहें कि जीव भी तो स्वरूप से अजन्मा है, किन्तु वह जन्म धारण करता है, ऐसे ही परमात्मा भी स्वरूप से अजन्मा, होकर जन्म धारण करता है, तो यह युक्ति ठीक नहीं है, क्योंकि प्रथम तो परमात्मा को जहाँ अजन्मा कहा है वहाँ **'अकायम्'** शरीररहित तथा **'अस्नाविरम्'** नाड़ी और नस के बन्धन से रहित भी कहा है, परन्तु जीव को ऐसा कहीं नहीं कहा। दूसरे, जीव को **'द्वा सुपर्णा'** आदि में कर्मों का फल भोगनेवाला कहा है, जिसके लिए शरीर का धारण करना आवश्यक है, किन्तु परमात्मा न शुभाशुभ कर्म करता है, न उनके फल भोगने के लिए शरीर की ज़रूरत है। तीसरे, जीव अणुपरिमाण एकदेशी है, सारा शरीर में समा सकता है। ईश्वर व्यापक होने से शरीर में नहीं समा सकता। चौथे, जीव का एकदेशी होने से गर्भ में आना-जाना कहा जा सकता है। परमेश्वर के लिए व्यापक होने के कारण आना-जाना नहीं कहा जा सकता, अतः जीव की भाँति परमेश्वर का जन्म नहीं माना जा सकता। फिर भला! यदि ईश्वर साकार और शरीरधारी है तो उसके स्वरूप को धीर पुरुष ही क्यों देखते हैं, आम लोग क्यों नहीं देख सकते? क्या राम और कृष्ण का शरीर, रावण, कुम्भकर्ण, मेघनाद, कंस, केशी, मधु आदि राक्षसों तथा साधारण पुरुषों को नज़र नहीं आता था? कैसे मख़ौल की बात है कि 'ईश्वर के अवतार धारण किये हुए शरीर को बुद्धिमान् परुष ही देख सकते हैं साधारण पुरुष नहीं!' इस प्रकार आपका सारा ही अर्थ असंगत, परस्पर-विरुद्ध तथा वेदमन्त्र के आशय के विरुद्ध होने से मिथ्या ही है। मन्त्र का ठीक-ठीक अर्थ इस प्रकार है—

प्रजापतिश्चरति गर्भेऽअन्तरजायमानो बहुधा वि जायते।
तस्य योनिं परि पश्यन्ति धीरास्तस्मिन् ह तस्थुर्भुवनानि विश्वा॥

—यजुः० ३१।१९

भाषार्थ—हे मनुष्यो! जो अपने स्वरूप से उत्पन्न नहीं होनेवाला, प्रजा का रक्षक जगदीश्वर गर्भस्थ जीवात्मा और सबके हृदय में विचरता है और बहुत प्रकारों से विशेषकर प्रकट होता है,

उस प्रजापति के जिस स्वरूप को ध्यानशील विद्वान्‌जन सब ओर से देखते हैं, उसी में प्रसिद्ध सब लोक-लोकान्तर स्थित हैं।

भावार्थ—सर्वरक्षक ईश्वर आप उत्पन्न न होता हुआ अपने सामर्थ्य से जगत् को उत्पन्न कर और उसमें प्रविष्ट होके सर्वत्र विचरता है। इस अनेक प्रकार से प्रसिद्ध ईश्वर को विद्वान् लोग ही जानते हैं। उस जगत् के आधाररूप सर्वव्यापक परमात्मा को जानके मनुष्यों को आनन्द भोगना चाहिए।

यह है इस मन्त्र का वास्तविक अर्थ। बतलाइए, इससे अवतार कैसे सिद्ध हो सकता है? अतः आपका ईश्वर-अवतार-सिद्धान्त वेदविरुद्ध और मिथ्या है।

(२७) प्रश्न—'रूपंरूपं प्रतिरूपो बभूव।' [ऋ० ६।४७।१८] इत्यादि वेद के केवल एक मन्त्र से ही ईश्वर के बहुत ईश्वर-अवतार सिद्ध हो जाते हैं। —पृ० १६२, पं० २

उत्तर—कहिए महाराज! आपका कोई निश्चित सिद्धान्त भी है या नहीं? अभी पीछे ईश्वर को स्वस्वरूपता से साकार सिद्ध करते हुए ईश्वर को संसार का **'अभिन्ननिमित्तोपादानकारण'** सिद्ध कर रहे थे, अब यहाँ पर आकर 'ईश्वर अपनी माया का आश्रय लेकर असंख्य रूपों को धारण करता है' ऐसा कहने लगे। इन दोनों में से कौन-सी बात सत्य और कौन-सी मिथ्या है? और यह भी बतलाइए कि वह माया क्या वस्तु है? वह माया या अविद्या ब्रह्म का ही गुण है या ब्रह्म से कोई भिन्न पदार्थ है? यदि कहो कि ब्रह्म का ही गुण है तो जिस ब्रह्म का गुण माया या अविद्या है, क्या वह ब्रह्म ब्रह्म कहलाने के योग्य है? और यदि माया ब्रह्म से भिन्न स्वतन्त्र पदार्थ है तो आपके सिद्धान्त **'अभिन्ननिमित्तोपादानकारण'** का आपके लेख से ही खण्डन हो गया। और बीच में से ये प्रेमी भक्त कौन निकल आये जिनको ईश्वर अपना रूप दिखाता है? क्या ये अनादि जीव तो नहीं हैं? इससे तो ईश्वर, जीव और प्रकृति का भिन्न-भिन्न तथा अनादि होना, इस एक ही मन्त्र से आपने स्वीकार कर लिया। फिर आपने **'हरयः'** शब्द को सर्वथा छोड़ दिया, इसका कोई अर्थ नहीं किया। सारे संसार को ईश्वर का रूप बनाते-बनाते सैकड़ों पर आ गये और उनको भी छोड़कर केवल दश ही रह गये, किन्तु ये दश भी रहते हुए नज़र नहीं आते, क्योंकि यह मन्त्र ईश्वरपरक है ही नहीं, अपितु इस मन्त्र का प्रतिपाद्य विषय जीवात्मा है और इस मन्त्र का ठीक-ठीक अर्थ इस प्रकार है—

रूपंरूपं प्रतिरूपो बभूव तदस्य रूपं प्रतिचक्षणाय।
इन्द्रो मायाभिः पुरुरूप ईयते युक्ता ह्यस्य हरयः शता दश॥

—ऋ० ६।४७।१८

भाषार्थ—जीव बुद्धियों के द्वारा प्रत्यक्ष कथन के लिए रूप-रूप का प्रतिरूप होता है और इस कारण वह बहुत शरीर धारण करने के हेतु अनेक रूपोंवाला पाया जाता है। वह सब-कुछ इसके शरीर का रूप है। अथवा यह सब-कुछ जीवात्मा के स्वरूपबोधन के लिए है। इस जीवात्मा के निश्चय से दश इन्द्रियाँ तथा सैकड़ों शक्तियाँ युक्त होकर कार्यों का साधन करती हैं।

भावार्थ—कर्मों के अनुसार जीवात्मा जिस-जिस शरीर में जाता है वैसे ही स्वभाव और वैसी ही चेष्टावाला हो जाता है। मनुष्य शरीर पाकर इसकी चेष्टा मनुष्य की-सी होती है तो पशु-पक्षी की योनि में जाकर वैसी गतिविधि करने लगता है। ये सारी बातें शरीर से आत्मा की पृथक् सत्ता को सिद्ध करती हैं।

इस मन्त्र में कितनी सुन्दरता से शरीर, इन्द्रियादि से आत्मा का भेद कथन किया गया है! इस मन्त्र से ईश्वर-अवतार सिद्ध करना वेदविरुद्ध एवं अनधिकार चेष्टा है।

(२८) प्रश्न—ईश्वर चैतन्य है। वह अवतार धारण करके भक्तों की रक्षा करता है। अब

कोई कैसे कह सकता है कि वेद में ईश्वर के अवतार का लेख नहीं है?—पृ० १६२, पं० २०

उत्तर—हम इस बात को बलपूर्वक कह सकते हैं कि वेदों में एक मन्त्र भी इस प्रकार का नहीं है कि जो ईश्वर के अवतार अथवा साकारता का वर्णन करता हो, अपितु, इस प्रकार के सैकड़ों मन्त्र वेदों में मौजूद हैं जो ईश्वर को निराकार, अजन्मा तथा शरीररहित बताते हैं। रहा आपका यह हेतु कि भक्तों की रक्षा करने के लिए ईश्वर अवतार धारण करता है, यह भी सत्य नहीं है, क्योंकि जो भक्तजन ईश्वर की आज्ञानुसार चलते हैं उनके उद्धार करने का पूरा सामर्थ्य ईश्वर में है। क्या ईश्वर के पृथिवी, सूर्य, चन्द्रादि जगत् को बनाने, धारण और प्रलय करनेरूप कर्मों से कंस, रावणादि का वध बड़े कर्म हैं? जो कोई इस सृष्टि में परमेश्वर के कर्मों का विचार करे तो ईश्वर के सदृश कोई न है, न होगा। यह अवतारवाद का सिद्धान्त संसार में पुरुषार्थ का नाश करके आलस्यवाद का फैलानेवाला है, क्योंकि अवतारवादी लोग इस आशा में कि हमारे कष्ट को दूर करने के लिए भगवान् स्वयं अवतार लेकर आवेंगे, स्वयं कोई पुरुषार्थ न करके हाथ-पर-हाथ रखकर यह राग आलापते रहते हैं कि—

वंशी वालिया काहना तेरे आवन दी लोड।
वंशी वालिया काहना तेरे आवन दी लोड॥

हमारी यह समझ में नहीं आता कि एक मगरमच्छ ने जब हाथी को खेंचा तो उसकी रक्षा के लिए परमेश्वर झट कूद पड़ा, किन्तु आज दिन निकलने से पहले सत्तर हज़ार गौओं की गरदन पर छुरा चल जाता है, आज वह इनकी रक्षा के लिए क्यों नहीं कूदता? क्या वे ईश्वर की नहीं हैं? इससे सिद्ध हुआ कि यह ढकोसला ही है कि परमात्मा भक्तों की रक्षा के लिए जन्म धारण करता है, अपितु इसके विरुद्ध पुराणों में लेख मौजूद है। शिवपुराण में लिखा है कि वृन्दा के शाप से श्री रामचन्द्रजी का जन्म हुआ। वह कथा इस प्रकार है—"विष्णु ने माया से दो बन्दरों की सहायता से वृन्दा को छलकर उससे मैथुन करके उसका पतिव्रत-धर्म भंग कर दिया। मैथुन के अन्त में वृन्दा को पता लगा कि यह तो विष्णु है। वृन्दा ने क्रोध में आकर विष्णु को शाप दिया—

रे महाधम दैत्यारे परधर्मविदूषक। गृह्णीष्व शठ मद्दत्तं शापं सर्वविषोल्बणम्॥ ४३॥
यौ त्वया मायया ख्यातौ स्वकीयौ दर्शितौ मम। तावेव राक्षसौ भूत्वा भार्यां तव हरिष्यतः॥ ४४॥
त्वं चापि भार्यादुःखार्त्तो वने कपिसहायवान्। भ्रम सर्पेश्वरेणायं यस्ते शिष्यत्वमागतः॥ ४५॥

—शिव० रुद्र० २, युद्धखण्ड ५, अध्याय २३

अर्थ—रे महापापी! राक्षसों के शत्रु! दूसरों के धर्म का नाश करनेवाले! मेरे दिये हुए तीक्ष्ण विष के समान शाप को ग्रहण कर॥ ४३॥ जो तूने अपनी माया से प्रकट किये अपने दो साथी मुझे दिखाये, वही दोनों राक्षस बनकर तेरी पत्नी को हरेंगे॥ ४४॥ और तू भी पत्नी के दुःख से व्याकुल हुआ जंगल में बन्दरों की सहायता लेकर अपने इस शिष्य शेषनाग के साथ भ्रमण करेगा॥ ४५॥"

पुराण के इस लेख से स्पष्ट है कि राम का जन्म भक्तों की रक्षा के लिए नहीं हुआ, अपितु वृन्दा के शाप के कारण हुआ था।

इसी प्रकार से कृष्ण के विषय में ब्रह्मवैवर्तपुराण में लिखा है कि गोलोक में कृष्ण को राधा ने क्रोध में आकर शाप दिया—

हे कृष्ण वृजाकान्त गच्छ मत्पुरतो हरे। कथं दुनोषि मां लोल रतिचौरातिलम्पट॥ ५९॥
शीघ्रं पद्मावतीं गच्छ रत्नमालां मनोरमाम्। अथवा वनमालां वा रूपेणाप्रतिमां व्रज॥ ६०॥
हे नदीकान्त देवेश देवानां च गुरोर्गुरो। मया ज्ञातोऽसि भद्रं ते गच्छ गच्छ ममाश्रमात्॥ ६१॥

शश्वत्ते मानुषाणां च व्यवहारस्य लम्पट। लभतां मानुषीं योनिं गोलोकाद् व्रज भारतम्॥ ६२॥
हे सुशीले शशिकले हे पद्मावति माधवि। निवार्यतां च धूर्त्तोऽयं किमस्यात्र प्रयोजनम्॥ ६३॥

—ब्रह्मवैवर्त० कृष्णजन्म खण्ड ४, पूर्वार्द्ध अध्याय ३

अर्थ—हे कृष्ण! हे हरे! हे वृजा के प्यारे! मेरे सामने से चला जा! हे चंचल! मुझे क्यों दु:ख देता है? हे अति लम्पट और कामचोर, मुझे क्यों कष्ट देता है॥५९॥ शीघ्रता से पद्मावती के पास जा। अथवा सुन्दरी रत्नमाला के पास जा। अथवा अनुपम रूपावाली वनमाला के पास जा॥६०॥ हे वृजा के प्यारे! हे देवेश! हे देवों के गुरु के गुरु! मैंने आपको जान लिया है। तेरा कल्याण हो। जा-जा मेरे आश्रम से चला जा॥६१॥ हे लम्पट! चूँकि आप मनुष्यों की भाँति मैथुन करने में लम्पट हैं, अत: आपको मनुष्य-योनि ही मिले। आप गो-लोक से भारत में चले जावें॥६२॥ हे सुशीले! हे शशिकले! हे पद्मावति! हे माधवि! यह धूर्त है। इसको यहाँ से दूर करो। इसका यहाँ क्या प्रयोजन है॥६३॥

इससे सिद्ध है कि कृष्ण का जन्म भक्तों की रक्षा के लिए नहीं अपितु राधा के शाप के कारण हुआ था।

दूसरे स्थान में इस प्रकार से भी वर्णन मौजूद है कि गोलोक में एक बार राधा की श्रीदामा से लड़ाई हो गई। तब श्रीदामा ने राधा को शाप दिया कि तू पृथिवी पर मानुषी योनि को प्राप्त हो। राधा ने कृष्ण के पास जाकर कहा तो कृष्ण ने कहा चिन्ता मत कर मैं भी भूतल पर जाकर तुम्हारे पास आऊँगा।

अतो हेतोर्जगन्नाथो जगाम नन्दगोकुलम्॥ १६॥
किं वा तस्य भयं कंसाद्भयान्तकारकस्य च।
मायाभयाच्छलेनैव जगाम राधिकान्तिकम्॥ १७॥

—ब्रह्मवै० कृष्णजन्म ४ पूर्वा० अ० २

अर्थ—इस कारण से जगत् के नाथ कृष्ण नन्द के गोकुल में गये॥१६॥ उनको कंस से क्या भय हो सकता था, क्योंकि वह तो स्वयं भय का अन्त करनेवाले हैं। वह तो माया और भय का छल करके वास्तव में राधा के पास ही गये थे॥१७॥

कहिए महाराज! अब तो स्पष्ट हो गया कि राम तथा कृष्ण का जन्म भक्तों की रक्षार्थ नहीं अपितु शाप के कारण हुआ था, अत: पुराणों के लेखानुसार भी भक्तों की रक्षार्थ ईश्वर का अवतार होना मिथ्या ही है।

यक्षावतार

(२९) प्रश्न—तलवकार अर्थात् केनोपनिषद् में '**ब्रह्म ह देवेभ्यो विजिग्ये तस्य ह**' इत्यादि १४ से २४ तक यक्ष अवतार का वर्णन किया गया है। —पृ० १६२, पं० ६

उत्तर—कहिएगा महाराज! यह यक्षावतार आपके २४ अवतारों में से कौन-से अवतार हैं? गुरुडपुराण, आचारकाण्ड अध्याय १ तथा भागवतपुराण, प्रथम स्कन्ध, अध्याय ३ में आपके यहाँ अवतारों का वर्णन इस प्रकार है—विष्णु, ब्रह्मा, कुमार, वराह, देवर्षि, नरनारायण, कपिलदेव, यज्ञ, उरुक्रम:, पृथिवी, मत्स्य, कच्छप, धन्वन्तरि, मोहिनी, नरसिंह, वामन, परशुराम, व्यास, राम, बलराम, कृष्ण, बुद्ध और कल्कि। वैसे तो आपके मत में यह सारा ही संसार ब्रह्म का रूप है। इसमें जितने रूप हैं, वे सब ब्रह्म का अवतार हैं, किन्तु आप तो विशेष अवतारों में से यक्षावतार का वर्णन कर रहे हैं, जबकि हमें आपके पूर्वोक्त विशेष अवतारों में कहीं 'यक्षावतार' का नाम नज़र नहीं आता। यह आपने व्यासजी के पीछे एक नये पच्चीसवें अवतार की कल्पना की है।

क्यों न हो, आप कोई व्यास से कम थोड़े ही हैं! यदि वह ब्रह्म का अवतार हैं तो आप भी तो ब्रह्म का स्वरूप हैं। यदि वह २४ अवतारों की कल्पना कर सकते हैं तो क्या आप एक की भी नहीं कर सकते?

दूसरे, आप केनोपनिषद् का पाठ देकर उसे वेद का प्रमाण प्रकट कर रहे हैं। श्रीमान्जी, उपनिषद् वेद नहीं हैं, अपितु, ऋषि लोगों के रचित होने से परत:प्रमाण माने जा सकते हैं।

तीसरे, इस पाठ में न तो अवतार शब्द ही मौजूद है और न ही इसमें परमेश्वर के जन्म लेने का वर्णन है।

चौथे, इस कथा को यदि सत्य मान लिया जावे तो इसमें असम्भव-दोष आता है, क्योंकि अग्नि, वायु ये दोनों ही चेतनारहित, जड़ पदार्थ हैं। इनका इकट्ठे होकर यह कहना कि 'हमारी ही विजय हुई है' और 'हमारा ही महत्त्व है' तथा अग्नि और वायु का यक्ष के पास जाकर बातचीत करना ये सब बातें असम्भव हैं। जड़ वस्तुओं से ऐसी बातें नहीं हो सकतीं, इस बात को साधारण कवि लोग भी जानते हैं। कालिदासजी मेघदूत में श्लोक संख्या ५ में इसी बात को बतलाते हैं—

धूमज्योतिः सलिलमरुतां सन्निपातः क्व मेघः, संदेशार्थाः क्व पटुकरणैः प्राणिभिः प्रापणीयाः।
इत्यौत्सुक्यादपरिगणयन् गुह्यकस्तं ययाचे, कामार्ता हि प्रकृतिकृपणाश्चेतनाचेतनेषु॥ ५॥

भावार्थ—आग, पानी, धूम, वायु के मेल से बना हुआ बादल कहाँ? [अचेतन होने से सन्देश पहुँचाने के अयोग्य है, यह भाव है] और समर्थ इन्द्रियवाले चेतन प्राणियों से पहुँचाने के योग्य सन्देश का अर्थ कहाँ? किन्तु यक्ष ने अपने इष्ट पदार्थ की उत्सुकता में इस बात का विचार न करते हुए मेघ से प्रार्थना की, क्योंकि कामवासना से व्याकुल हुए स्वभाव से दीन लोग चेतन-अचेतन में विचार नहीं कर सकते। [कामान्ध लोगों के युक्त-अयुक्त के विवेक से शून्य होने के कारण अचेतन से प्रार्थना असम्भव नहीं है, यह भाव है।]

यदि आप इस कथा को वास्तविक मान लेंगे तो मानना पड़ेगा कि यह लेख 'उन्मत्तप्रलाप' अर्थात् 'पागलों की बड़' ही है, किन्तु यह बात नहीं है। यह कथा वास्तविक नहीं, अपितु, 'अग्नि, वायु आदि से ब्रह्म की शक्ति प्रबल है', इस बात को समझाने के लिए यह अलंकाररूप कथा बनाई गई है और ऐसा प्रत्येक भाषा में पाया जाता है। जैसे—

सोना बोला— **सोना कहे सुनार से, उत्तम मेरी जात।**
यह काले मुख की लालड़ी, क्यों तुले हमारे साथ॥

रत्ती बोली— **लालों की मैं लालड़ी, लाल हमारा रंग।**
काला मुख तब से भया, जब तुली नीच के संग॥

इससे स्पष्ट है कि सोना तथा रत्ती जड़ होने से बातचीत नहीं कर सकते, किन्तु कवि ने लोगों को यह शिक्षा देने के लिए कि 'जो किसी को बुरा कहेगा वह दूसरे से बुरा कहलवाएगा' यह अलंकाररूप सोने तथा रत्तिका का संवाद कल्पित किया है। इसी प्रकार से भाषा तथा उर्दू के साहित्य में 'सोने-चाँदी की अँगूठियों का', 'गिलहरी-पहाड़ का', 'वृक्ष-पक्षियों का', 'पगड़ी-जिह्वा का', 'तीली लौंग का', इत्यादि अनेक संवाद मिलते हैं, जोकि कवियों ने अनेक प्रकार के भाव समझाने के लिए कल्पित किये हैं। इसी प्रकार के शिक्षा देनेवाले अलंकाररूप संवाद संस्कृत साहित्य, उपनिषद्, ब्राह्मण तथा वेदों तक में भी मिलते हैं। इस बात को निरुक्त ने स्पष्ट रूप से लिख दिया है। जैसेकि—

अपुरुषविधाः स्युरित्यपरम्॥ १॥

अपि तु यद् दृश्यतेऽपुरुषविधं तद्यथाऽग्निर्वायुरादित्यः पृथिवी चन्द्रमा इति॥ २॥
यथो एतच्चेतनावद्विद्धि स्तुतयो भवन्तीत्यचेतनान्यप्येवं
स्तूयन्ते यथाक्षप्रभृतीन्योषधिपर्यन्तानि॥ ३॥
यथो एतत्पौरुषविधिकैरङ्गैः संस्तूयन्त इत्यचेतनेष्व-
प्येतद्भवत्यभिक्रन्दन्ति हरितेभिरासभिरिति ग्रावस्तुतिः॥ ४॥
यथो एतत्पुरुषविधिकैर्द्रव्यसंयोगैरित्येतदपि तादृशमेव
'सुखं रथं युयुजे सिन्धुरश्विनम्' इति नदीस्तुतिः॥ ५॥
यथो एतत्पौरुषविधिकैः कर्मभिरित्येतदपि तादृशमेव।
'होतुश्चित्पूर्वे हविरद्यमाशत' इति ग्रावस्तुतिरेव॥ ६॥

—नि० दै० अ० ७ खण्ड ७

भावार्थ—देवता पुरुष से भिन्न भी होते हैं—यह दूसरा पक्ष है॥ १॥

जैसाकि दृष्टिगोचर हो रहा है पुरुष से भिन्न, जैसे अग्नि, वायु, सूर्य, पृथिवी, चन्द्रमा आदि॥ २॥

जैसे इनकी चेतनावालों की भाँति स्तुतियाँ हैं, अर्थात् अचेतन भी चेतनों की भाँति स्तुति किये जाते हैं—अक्ष से लेकर ओषधिपर्यन्त॥ ३॥

जैसे इनकी पुरुषों के समान अंगों से स्तुति करते हैं, अर्थात् अचेतनों में भी चेतन के अङ्गो के समान स्तुति की जाती है, जैसे पत्थरों के लिए आता है कि 'वे हरे-हरे मुखों से बोलते हैं'॥ ४॥

जैसे वे पुरुषों के समान वस्तुओं के संयोग से स्तुति किये जाते हैं, अर्थात् अचेतन भी चेतनों के समान वस्तुओं के संयोग से स्तुति किये जाते हैं। जैसे नदी के लिए आता है कि 'नदी सुख देनेवाले रथ को जोड़ती है'॥ ५॥

जैसे ये पुरुषों के समान कर्मों से स्तुति किये जाते हैं, अर्थात् अचेतन भी चेतन के समान कर्मों से स्तुति किये जाते हैं। जैसे पत्थरों के लिए आता है कि ये 'अग्नि और होताओं से पहिले खाने योग्य हवि को खाते हैं'॥ ६॥

निरुक्त ने इस बात को बिल्कुल साफ़ कर दिया है कि यद्यपि अग्नि, वायु, पृथिवी, जल, सूर्य, चन्द्र आदि पदार्थ जड़ हैं, तो भी इनका वर्णन चोतनों के समान ही किया जाता है। इससे वे चेतन नहीं बन जाते, अपितु यह वर्णन करने की शैलीमात्र है। हम इस विषय में आपके सामने प्रश्नोपनिषत् में से इसी प्रकार का दूसरा वर्णन दिखाते हैं ताकि आपकी पूरे तौर से तसल्ली हो जावे। जैसे—

अथ हैनं भार्गवो वैदर्भिः पप्रच्छ। भगवन् कत्येव देवाः प्रजां विधारयन्ते, कतर एतत्प्रकाश्यन्ते, कः पुनरेषां वरिष्ठ इति॥ १॥ तस्मै स होवाचाकाशो ह वा एष देवो वायुरग्निरापः पृथिवी वाङ्मनश्चक्षुः श्रोत्रं च। ते प्रकाश्याभिवदन्ति वयमेतद्बाणमवष्टभ्य विधारयामः॥ २॥ तान् वरिष्ठः प्राण उवाच, मा मोहमापद्यथाहमेवैतत्पञ्चधात्मानं प्रविभज्यैतद्बाणमवष्टभ्य विधारयामीति। तेऽश्रद्दधाना बभूवुः॥ ३॥ सोऽभिमानादूर्ध्वमुत्क्रमत इव तस्मिन्नुत्क्रामत्यथेतरे सर्व एवोत्क्रामन्ते तस्मिंश्च प्रतिष्ठमाने सर्व एव प्रातिष्ठन्ते तद्यथा मक्षिका मधुकरराजानमुत्क्रामन्तं सर्वा एवोत्क्रामन्ते एवमस्मिंश्च प्रतिष्ठमाने सर्वा एव प्रातिष्ठन्त एवं वाङ्मनश्चक्षुः श्रोत्रं च ते प्रीताः प्राणं स्तुवन्ति॥ ४॥ —प्रश्नो० प्र० २ मं० १-४

भावार्थ—प्रथम प्रश्न का उत्तर सुनने के अनन्तर प्रसिद्ध है कि पिप्पलाद ऋषि से भृगुकुलोत्पन्न

वैदर्भि ने पूछा—हे ऐश्वर्यसम्पन्न! कितने देव इस शरीररूपी प्रजा को धारण करते हैं और कितने इसको प्रकाशित करते हैं, फिर इनमें कौन श्रेष्ठ हैं॥ १॥ वैदर्भि के प्रश्न का उत्तर देने के लिए वह पिप्पलाद स्पष्टतया बोले—प्रसिद्ध है कि आकाश, वायु, अग्नि, जल और पृथिवी—ये पाँच भूत, वाणी, मन, नेत्र और श्रोत्र ये सब देव हैं। ये शरीर को प्रकाशित करके कहने लगे कि हम इस शरीर को आश्रय करके धारण करते हैं॥ २॥ उन सब देवों से श्रेष्ठ प्राण बोला कि मत मोह को प्राप्त होवो—'मैं ही प्राणादि पाँच भेदों से अपने-आपको विभक्त करके इस शरीर को थामे हुआ हूँ और मैं ही इनको धारण करता हूँ'। वे सब देवरूप इन्द्रिय अश्रद्धावाले हुए॥ ३॥ तब वह प्राण अभिमान से ऊपर को उत्क्रमण करने की नाईं उठता दीख पड़ा। उसको निकलता हुआ देख अन्य सब भी निकलने लगे और उसके ठहरने पर सभी ठहर गये। जैसे मधु की सारी मक्खियाँ अपने राजा के निकलने पर उसके पीछे निकल जाती हैं, और उसके स्थिर होने पर सब ही स्थिर हो जाती हैं, इसी प्रकार प्राण के अधीन वागादि सब देव हैं। तब वे वाणी, मन, चक्षु और श्रोत्रादि इन्द्रिय विश्वासवाले हुए प्राण की स्तुति करने लगे॥ ४॥

अब देखिए, इस प्रकरण में आकाश, वायु, अग्नि, जल, पृथिवी, वाणी, श्रोत्र, चक्षु और प्राणों को जड़ होते हुए भी चेतन के समान वादविवाद करते हुए वर्णन किया है। इससे उपर्युक्त पदार्थ चेतन नहीं बन गये, अपितु यह वर्णन करने की शैली है और इस प्रकार वर्णन करने का प्रयोजन यह है कि शरीर में उपर्युक्त सब पदार्थ प्राण के ही आश्रय हैं, अतः प्राण ही सबमें श्रेष्ठ है। बस, इसी प्रकार से ही केनोपनिषद् के '**ब्रह्म ह देवेभ्यो**' इत्यादि पाठ के वर्णन से अग्नि, वायु आदि चेतन नहीं बन गये और न ही ब्रह्म शरीरधारी बन गया, अपितु यह वर्णन करने की शैली है और इस प्रकार वर्णन करने का प्रयोजन यह है कि ब्रह्म की शक्ति के सामने सब शक्तियाँ तुच्छ हैं। आपने इस रहस्य को न समझते हुए जो इस लेख से ब्रह्म का अवतार सिद्ध करने का यत्न किया है, वह युक्तिशून्य तथा वेदविरुद्ध होने से मिथ्या ही है।

मत्स्यावतार

(३०) प्रश्न—शतपथ पृष्ठ ५८ में '**मनवे ह वै प्रातः**' इत्यादि। मनु प्रातः हाथ धोने लगे तो उनके हाथ में छोटी-सी मछली आ गई। तब मछली ने मनु से कहा आप मेरी पालना करें तो सबको डुबा देनेवाला जो जलप्रवाह आवेगा उसमें मैं आपकी रक्षा करूँगी। मनु ने उसका पालन करके बड़ा मत्स्य होने पर समुद्र में छोड़ दिया। जब जल का महाप्रवाह आया तो मत्स्य भगवान् ने मनु की किश्ती को हिमालय पर ऊँची जगह पहुँचा दिया। तब सब प्रजा जल में डूबकर नष्ट हो गई, एक मनु ही शेष रह गये। इस लेख से सिद्ध होता है कि वेद में भगवान् के मत्स्य अवतार का वर्णन आता है। —पृ० १६५, पं० २

उत्तर—आपने शतपथ के पाठ को वेद के नाम पर मढ़ दिया। यह सत्य नहीं, क्योंकि शतपथ ईश्वरकृत नहीं, अपितु ऋषिकृत होने से परतःप्रमाण है।

दूसरे, इस सारे पाठ में न तो अवतार शब्द है, न ईश्वर या ईश्वर के जन्म लेनेका वर्णन है। तीसरे, क्या यह सम्भव है कि मछली सेवकों को नज़र न आई? क्या वह अत्यन्त ही सूक्ष्म थी?

चौथे, मछली का बोलना तथा राजा का समझना दोनों असम्भव हैं।

पाँचवें, जो प्राणी राजा से अपनी रक्षा की प्रार्थना कर रहा है, क्या वह स्वयं ईश्वर हो सकता है? यह सर्वथा असत्य है।

छठे, समुद्र के बड़े मत्स्यों से जान का भय खानेवाला ईश्वर कैसे?

सातवें, जल-जन्तुओं को अपना नाशक शत्रु माननेवाला ईश्वर का अवतार नहीं कहा जा सकता।

आठवें, मछली के सींगों का वर्णन और भी हास्यास्पद है, अतः मानना पड़ेगा कि यह वास्तविक कथा नहीं है, अपितु पूर्व-वर्णित केनोपनिषत् की गाथा की भाँति अलंकाररूप गाथा है, जिसका प्रयोजन लोगों को यह शिक्षा देना है कि 'यदि तुम औरों की पालना-पोषणा, और आपत्तिकाल में सहायता करोगे तो वे भी तुम्हारे आपत्काल में काम आवेंगे और तुम्हारी रक्षा करेंगे।' इससे मछली का बातें करना आदि सत्य नहीं होता, अपितु यह वर्णन करने की शैली ही है। ईश्वर का मत्स्य अवतार इस पाठ से सिद्ध करना वेदविरुद्ध होने से मिथ्या तथा असम्भव और अनधिकार चेष्टा है।

ब्रह्मावतार

(३२) प्रश्न—'ब्रह्मज्येष्ठा संभृता।' [अ० १९।२३।३०] इस मन्त्र में ब्रह्मा के अवतार का वर्णन है। —पृ० १६७, पं० १५

उत्तर—कृपया यह बतलावें कि इस मन्त्र में वे कौन-से शब्द हैं जिनसे ईश्वर का अवतार सिद्ध होता है? प्रकट होने का अर्थ अवतार लेना या जन्म धारण करना नहीं है, अपितु निमित्तकारण ईश्वर का उपादानकारण प्रकृति से सूर्य, चाँद, पृथिवी आदि का पैदा करना ही उसका प्रकट होना है। मन्त्र के ठीक-ठीक अर्थ इस प्रकार हैं—

ब्रह्मज्येष्ठा संभृता वीर्याणि ब्रह्माग्रे ज्येष्ठं दिवमा ततान।
भूतानां ब्रह्मा प्रथमोत जज्ञे तेनार्हति ब्रह्मणा स्पर्धितुं कः॥
—अ० १९।२३।३०

भाषार्थ—यथावत् धारण किये हुए वीर कर्म परमात्मा को प्रधान रखनेवाले हैं। महाप्रधान परमात्मा ने पहिले ज्ञान को सब ओर फैलाया है और वह सबसे बड़ा सर्वजनक परमात्मा प्राणियों में सबसे पहिले प्रकट हुआ है। इसलिए महान् परमात्मा की कौन बराबरी कर सकता है?॥ ३०॥

इस मन्त्र से परमात्मा का अवतार सिद्ध करना वन्ध्यापुत्र का विवाह देखने के समान असम्भव और व्यर्थ चेष्टा है।

जिस ब्रह्मा को आप अवतार सिद्ध करने के लिए पानी-पानी हो रहे हैं, जरा यह तो बतलावें कि उसने संसार में आकर क्या उपकार किया, किन भक्तों की रक्षा की और अपने चरित्र से संसार को क्या शिक्षा दी? पुराणों में आपके प्रथमावतार ब्रह्मा का यूँ वर्णन है—

(क) ब्रह्मा ने राक्षसों को पैदा किया, वे राक्षस ब्रह्मा से ही मैथुन करने के लिए उसके पीछे दौड़े। ब्रह्मा भयभीत हुआ, विष्णु के पास आया और बोला—

पाहि मां परमात्मंस्ते प्रेषणेनासृजं प्रजाः।
ता इमा यभितुं पापा उपक्रामन्ति मां प्रभो॥ २६॥ —भा० स्क० ३ अ० २०

भाषार्थ—हे परमात्मन्! मेरी रक्षा करो, मैंने आपके भेजने से प्रजा उत्पन्न की थी। वे ये पापी मेरे साथ मैथुन करने के लिए मेरे पीछे भाग रहे हैं॥ २६॥

(ख) **एतस्मिन्नन्तरे वक्त्रात्समुद्भूता च शारदा।**
दिव्याङ्गं सुन्दरं तस्या दृष्ट्वा ब्रह्मा स्मरातुरः॥ २॥
बलाद् गृहीत्वा तां कन्यामुवाच स्मरपीडितः।
रतिं देही मदाघूर्णे रक्ष मां कामविह्वलम्॥ ३॥
इति श्रुत्वा तु सा माता रुषा प्राह पितामहम्।
पंचवक्त्रोऽयमशुभो न योग्यस्तव कंधरे॥ ४॥
—भविष्य० प्रतिसर्गपर्व ४ अ० १३

भाषार्थ—इतने में ब्रह्मा के मुख से शारदा नामक पुत्री पैदा हुई। उसके अति सुन्दर अङ्गो को देखकर ब्रह्माजी कामातुर हो गये॥ २॥ उस कन्या को जबरदस्ती पकड़कर कामातुर हुए ब्रह्माजी बोले—मस्त नेत्रोंवाली! मुझे जोबन का दान दे और मुझ कामाकुल की रक्षा कर॥ ३॥ यह सुनकर वह माता क्रोध से ब्रह्मा को बोली—यह जो तुम्हारा अशुभ पाँचवाँ मुख है, वह तुम्हारे कन्धे पर रहने योग्य नहीं है॥ ४॥

(ग) ब्रह्मा का पुत्र दक्ष था, दक्ष की पुत्री सती थी। सती का विवाह महादेव से होना निश्चित हुआ, तो दक्ष ने ब्रह्मा से प्रार्थना की। इसे ब्रह्मा के शब्दों में सुनिए—

ततो मां पितरं प्राह दक्षः प्रीत्या हि मत्सुतः।
प्रणिपत्य त्वया कर्म कार्यं वैवाहिकं विभो॥ ३१॥

—शिव० रुद्र० २ अध्याय १८

तब मेरा पुत्र प्रीति से मुझ बाप को बोला कि—यह विवाह का कार्य आप ही करवावें॥ ३१॥

यह प्रार्थना स्वीकार करके मैं अपनी पोती सती का विवाह महादेव से करवाने लगा। जब विवाह-संस्कार हो रहा था, तब—

प्रदक्षिणां प्रकुर्वन्त्या वह्नेः सत्या पदद्वयम्। आविर्बभूव वसनात्तदद्राक्षमहं मुने॥ १७॥
मदनाविष्टचेताश्च भूत्वांगानि व्यलोकयम्। अहं सत्या द्विजश्रेष्ठ शिवमायाविमोहितः॥ १८॥
यथा यथाहं रम्याणि व्यैक्षमंगानि कौतुकात्। सत्या बभूव संहृष्टः कामार्तो हि तथा तथा॥ १९॥
अहमेवं तथा दृष्ट्वा दक्षजां च पतिव्रताम्। स्मराविष्टमना वक्त्रं द्रष्टुकामोऽभवं मुने॥ २०॥
न शंभोर्लज्जया वक्त्रं प्रत्यक्षं च विलोकितम्। न च सा लज्जयाविष्टा करोति प्रकटं मुखम्॥ २१॥
ततस्तद्दर्शनार्थाय सदुपायं विचारयन्। धूम्रघोरेण कामार्तोऽकार्षं तच्च ततः परम्॥ २२॥
आर्द्रेन्धनानि भूरीणि क्षिप्त्वा तत्र विभावसौ। स्वल्पाज्याहुतिविन्यासादार्द्रद्रव्योद्भवस्तथा॥ २३॥
प्रादुर्भूतस्ततो धूमो भूयांस्तत्र समन्ततः। तादृग् येन तमोभूतं वेदीभूमिविनिर्मितम्॥ २४॥
ततो धूमाकुले नेत्रे महेशः परमेश्वरः। हस्ताभ्यां छादयामास बहुलीलाकरः प्रभुः॥ २५॥
ततो वस्त्रं समुत्क्षिप्य सतीवक्त्रमहं मुने। अवेक्षं किल कामार्तः प्रहृष्टेनान्तरात्मना॥ २६॥
मुहुर्मुहुरहं तात पश्यामि स्म सतीमुखम्। अथेन्द्रियविकारं च प्राप्तवानस्मि सोऽवशः॥ २७॥
मम रेतः प्रचस्कन्द ततस्तद्वीक्षणाद् द्रुतम्। चतुर्बिन्दुमितभूमौ तुषारचयसन्निभम्॥ २८॥

—शिवपु० रुद्र० सती० २ अ० १९

भाषार्थ—अग्नि की प्रदक्षिणा करते हुए सती के दोनों पैर कपड़े से बाहर नंगे हो गये। वे मैंने देख लिये॥ १७॥ मैं काम में व्याकुल होकर उसके और अंगों को देखने लगा, क्योंकि मैं शिव की माया से मोहित था॥ १८॥ मैं कौतुक से जैसे-जैसे उस सती के सुन्दर अंगों को देखता था, वैसे-वैसे मैं कामार्त होता जा रहा था॥ १९॥ मैं इस प्रकार से पतिव्रता दक्ष की पुत्री को देखकर काम से व्याकुल होकर उसके मुख को देखने की इच्छा करने लगा॥ २०॥ मैंने महादेव की लज्जा से प्रत्यक्ष मुख नहीं देखा और वह भी लज्जा से मुख नंगा न करती थी॥ २१॥ तब मैंने उसके दर्शनार्थ अच्छा उपाय विचारा। मैंने कामार्त्त होने से घोर धुआँ पैदा कर दिया॥ २२॥ बहुत गीली-सी लकड़ियाँ वहाँ अग्नि में डालकर और अल्प घी डालने से गीली लकड़ियों से धुआँ पैदा हो गया॥ २३॥ तब वहाँ बहुत धुआँ पैदा हो गया जिससे सारी वेदी धुआँ-धार हो गई॥ २४॥ तब महादेव ने धूएँ से व्याकुल हो अपने नेत्र दोनों हाथों से ढक लिये॥ २५॥ तब मैंने प्रसन्न मन से कामार्त हो कपड़ा उठाकर सती का मुख देख लिया॥ २६॥ मैं सती का मुख बार-बार देखता था। तब मैं बेबस होकर इन्द्रियों के विकार को प्राप्त हो गया॥ २७॥ तब उसके

देखने से शीघ्रता से मेरा वीर्यपात हो गया। वह वीर्य्य चार बिन्दु ओस के क़तरों के समान था॥ २८॥

इस प्रकार के सैकड़ों ब्रह्मचर्य-विरोधी कार्य ब्रह्मा के पुराणों में दिखाये जा सकते हैं, तो क्या इन्हीं कार्यों के लिए ब्रह्मा का अवतार हुआ था?

(३२) प्रश्न—'तदण्डमभवद्धैममिति।' [मनु० १।९] में मनु ने ब्रह्माण्ड के सूक्ष्मरूप विराट् से ब्रह्मा की उत्पत्ति लिखकर वेदमन्त्र की पुष्टि की है॥ —पृ० १६७, पं० २३

उत्तर—न तो वेदमन्त्र में ही आपके फ़र्ज़ी पौराणिक ब्रह्मा के अवतार का वर्णन है और न ही मनुस्मृति उसकी पुष्टि करती है। मनु ने जिस ब्रह्मा के प्रकट होने का उपर्युक्त श्लोक में वर्णन किया है उस ब्रह्मा का लक्षण वह मनु० अध्याय १ श्लोक ११ में इस प्रकार करके स्पष्ट करते हैं—

यत्तत्कारणमव्यक्तं नित्यं सदसदात्मकम्।
तद्विसृष्टः स पुरुषो लोके ब्रह्मेति कीर्त्यते॥ ११॥

भाषार्थ—जो वह अदृश्य नित्य सत्-असत्-आत्मिक कारणप्रकृति है, उसे स्थूल कार्यरूप में प्रकट करने के कारण उस परमात्मा को ब्रह्मा कहते हैं।

और सूक्ष्म उपादानकारण प्रकृति को स्थूल कार्यरूप में परिवर्तित करना ही परमात्मा का प्रकट होना है। जैसे—

ततः स्वयंभूर्भगवानव्यक्तो व्यञ्जयन्निदम्।
महाभूतादि वृत्तौजाः प्रादुरासीत्तमोनुदः॥ ६॥
योऽसावतीन्द्रियग्राह्यः सूक्ष्मोऽव्यक्तः सनातनः।
सर्वभूतमयोऽचिंत्यः स एव स्वयमुद्बभौ॥ ७॥ —मनु० १।६-७

भाषार्थ—फिर वह नित्य, बाह्य इन्द्रियों से अगोचर, योगाभ्यास से सेवन करने के योग्य, अखण्डित सृष्टिसामर्थ्यवाला, प्रकृति का प्रेरक, परमात्मा आकाशादि पाँच महाभूतों को सूक्ष्मरूप से स्थूल रूप में प्रकाशित करके प्रकाशित हुआ॥ ६॥ जो वह बाहर की इन्द्रियों से अगोचर, सूक्ष्म, अवयवों से रहित, नित्य, सर्वभूतों में व्यापक परमात्मा है। वह स्वयं ही कारणप्रकृति को कार्यजगत् में परिवर्तित करके प्रकट हुआ॥ ७॥

आशा है अब आप भली-भाँति समझ जावेंगे कि मनुस्मृति में भी परमात्मा के जन्म-धारण तथा अवतार का ज़बरदस्त खण्डन है। अब तीनों श्लोकों की रोशनी में आपके श्लोक के अर्थ इस प्रकार से हुए—

तदण्डमभवद्धैमं सहस्रांशुसमप्रभम्।
तस्मिञ्जज्ञे स्वयं ब्रह्मा सर्वलोकपितामहः॥ —मनु० १।९

अर्थ—वह प्रकृतिरूप बीज, अर्थात् सोने के समान चमकनेवाला कारणसूर्य अण्डे के समान गोल रूप हो गया। उसके ऐसा कार्यरूप बनने पर सारे संसार के पितामह ब्रह्मा अर्थात् परमात्मा अपने-आप ही प्रसिद्धि हो गये, क्योंकि कार्य से ही कर्त्ता प्रसिद्ध होता है।

बस, इस श्लोक का यही अर्थ वेदानुकूल होने से सत्य है। इससे ईश्वर का ब्रह्मा रूप में अवतार लेना सिद्ध नहीं होता।

(३३) प्रश्न—'ब्रह्मा देवानां प्रथमः' मुण्डकोपनिषत् में यह स्पष्ट है कि संसार के बनानेवाले और संसार की रक्षा करनेवाले ब्रह्मा समस्त देवताओं से पहिले प्रकट हुए। मानना पड़ेगा कि ब्रह्मा ईश्वर-अवतार है॥—पृ० १३८, पं० ५

उत्तर—प्रथम तो यह वेद का प्रमाण नहीं है। उपनिषद् वेदानुकूल होने से प्रमाण हैं, अन्यथा

नहीं। दूसरे, इस लेख में न तो ईश्वर का वर्णन है और न ही ईश्वर के जन्म लेने का वर्णन है, अपितु ब्रह्मा नाम के ऋषि का वर्णन है। यहाँ पर 'देवों में प्रथम' का अभिप्राय 'विद्वानों में अव्वल दर्जा' अर्थात् 'विद्वानों में फर्स्ट क्लास', 'सर्वश्रेष्ठ' ऐसा है, प्रथम पैदा होने का नहीं है। इस पाठ का सत्य, वेदानुकूल अर्थ इस प्रकार है—

ब्रह्मा देवानां प्रथमः संबभूव विश्वस्य कर्ता भुवनस्य गोप्ता।
स ब्रह्मविद्यां सर्वविद्याप्रतिष्ठामथर्वाय ज्येष्ठपुत्राय प्राह॥ १॥

—मुण्डको० १।१

भाषार्थ—ब्रह्मवेत्ता विद्वानों में प्रसिद्ध, मुख्य, ब्रह्मविद्या के उपदेश द्वारा संसार के ज्ञानरूप जन्मदाता तथा रक्षक ब्रह्मा नामक ऋषि प्रसिद्ध हुए। उन्होंने अथर्वा नामक अपने बड़े पुत्र को सब विद्याओं में श्रेष्ठ ब्रह्मविद्या का उपदेश किया॥ १॥

ब्रह्मवेत्ता विद्वानों में प्रसिद्ध और ब्रह्मविद्या के उपदेश द्वारा अपने शिष्यवर्ग को जन्म देनेवाला 'ब्रह्मा' नामक ऋषि हुआ। उस ब्रह्मा ने अपने ज्येष्ठ पुत्र अथर्वा के प्रति ब्रह्मविद्या का उपदेश किया। बस, इसके सिवा यहाँ अवतार की गन्ध भी नहीं है।

वराहावतार

(३४) प्रश्न—'वराहेण पृथिवी संविदाना।' [अथर्व० १२।१।४८] में वराह—सूकररूपधारी प्रजापति ईश्वर-अवतार का वर्णन है। —पृ० १६८, पं० १७

उत्तर—इस मन्त्र को आपने पूरा न देकर धोखा किया है। इस पूरे मन्त्र को पढ़ने से पता लगता है कि न इसमें कहीं ईश्वर का वर्णन है और न ही उसके अवतार की चर्चा है, अपितु यहाँ पर पृथिवी, मेघ तथा सूर्य की विद्या का वर्णन है। केवल वराह शब्द को देखते ही अवतार की कल्पना करना निर्मूल है, क्योंकि निरुक्त ५।४।१ में **'वराहो मेघो भवति'** वराह नाम मेघ का है, स्पष्ट लिखा है। पूरा मन्त्र तथा उसका ठीक अर्थ इस प्रकार है—

मल्वं बिभ्रती गुरुभृद् भद्रपापस्य निधनं तितिक्षुः।
वराहेण पृथिवी संविदाना सूकराय वि जिहीते मृगाय॥

—अथर्व० १२।१।४८

भाषार्थ—धारण-सामर्थ्य को और भारीपन रखनेवाले सामर्थ्य को धारण करनेवाली, भले और बुरे के समूह को सहनेवाली, मेघ के साथ मिली हुई पृथिवी सुखद किरणोंवाले गमनशील सूर्य के लिए विविध प्रकार से प्राप्त होती है।

भावार्थ—पृथिवी अपने धारण-आकर्षण से सब पदार्थों को अपने पर रखती है और सूर्य के सन्मुख जल आकाश में चढ़ता और बरसता है, उस पृथिवी को उपयोगी बनाने में मनुष्य प्रयत्न करें।

इससे स्पष्ट हो गया कि इस मन्त्र में ईश्वर-अवतार का लेशमात्र भी वर्णन नहीं है।

(३५) प्रश्न—'उद्धृतासि वराहेण।' [तैत्ति० अ० १ अनु० मं० ३०] में भी ईश्वर के वराह अवतार की पुष्टि की गई है। —पृ० १६८, पं० २१

उत्तर—प्रथम तो आपका यह प्रमाण वेद का नहीं है, क्योकि तैत्तिरीय आरण्यक भी परतःप्रमाण है। दूसरे, इस पाठ में भी ईश्वर या ईश्वर के जन्म लेने की लेशमात्र भी चर्चा नहीं है, क्योंकि आप भी वराह भगवान् के सैकड़ों हाथ तथा उसका काला रंग नहीं मानते, अतः यहाँ पर भी भूमि का उद्धार करनेवाले सैकड़ों शक्तियों से सम्पन्न काले रंग के मेघ का ही वर्णन वेदानुकूल है।

उद्धृताऽसि वराहेण कृष्णेन शतबाहुना॥

भाषार्थ—इस पृथिवी का वर्षा की सैकड़ों धारारूप शक्तियों से युक्त काले रंगवाले मेघसमूह ने उद्धार किया है। इसके सिवाय यहाँ पर और अर्थ असम्भव है।

(३६) प्रश्न—'इयती ह वा इयमग्रे।' [शत० १४।१।२।११] में भी वराह अवतार का वर्णन मौजूद है॥ —पृ० १६८, पं० २५

उत्तर—आपको वेद का तो कोई प्रमाण मिलता ही नहीं। यहाँ पर भी वराह शब्द को देखते ही शतपथ का प्रमाण दे मारा। श्रीमान्‌जी! इस पाठ में भी न ईश्वर का वर्णन है और न ही उसके जन्म लेने का प्रतिपादन है, अपितु यहाँ भी यज्ञ से वर्षा द्वारा प्रजा का पालन करनेवाले पृथिवी के पति मेघ का ही वर्णन है। इस पाठ का वेदानुकूल अर्थ इस प्रकार से है—

इयती ह वा इयमग्रे पृथिव्यास प्रादेशमात्री तामेमूष
इति वराह उज्जघान सोऽस्याः पतिः प्रजापतिरिति॥

—शत० १४।१।२।११

भाषार्थ—यह इतनी पृथिवी जो सामने है, यह उस सारी पृथिवी का भागमात्र है, (क्योंकि तीन भाग पृथिवी जलों के नीचे है और एक भाग खाली है) उसका यह मेघ उद्धार करता है। सो मेघ इसका पति तथा प्रजा का पालन करनेवाला है।

कहिए, इससे अवतार कैसे सिद्ध हुआ और आपके वराहजी ने अवतार लेकर संसार का उपकार क्या किया? हमें तो पुराणों में वराह की कथा इस प्रकार से मिलती है। देखिए—

वाराहे च वराहश्च ब्रह्मणा संस्तुतः पुरा। उद्दधार महीं हत्वा हिरण्याक्षं रसातलात्॥ २७॥
जले तां स्थापयामास पद्मपत्रं यथार्णवे। तत्रैव निर्ममे ब्रह्मा सर्वं विश्वं मनोहरम्॥ २८॥
दृष्ट्वा तदधिदेवीं च सकामां कामुको हरिः। वराहरूपी भगवान् कोटिसूर्यसमप्रभः॥ २९॥
कृत्वा रतिकरीं शय्यां मूर्तिं च सुमनोहराम्। क्रीडां चकार रहसि दिव्यवर्षमहर्निशम्॥ ३०॥
सुखसंभोगसंस्पर्शान्मूर्च्छां सम्प्राप सुन्दरी। विदग्धया विदग्धेन सङ्गमोऽति सुखप्रदः॥ ३१॥
विष्णुस्तदङ्गसंश्लेषाद् बुबुधे न दिवानिशम्। वर्षान्ते चेतनां प्राप्य कामी तत्याज कामुकीम्॥ ३२॥
दधार पूर्वरूपं हि वाराहं चैव लीलया। पूजां चकार भक्त्या च ध्यात्वा च धरणीं सतीम्॥ ३३॥
बभूव तेन गर्भेण तेजस्वी मंगलग्रहः॥ ४३॥ —ब्रह्मवै० प्रकृति० अ० ८

भाषार्थ—वाराहकल्प में वराह भगवान् हुए, जिनकी ब्रह्मा ने पहिले स्तुति की। हिरण्याक्ष को मारकर रसातल से पृथिवी का उद्धार किया॥ २७॥ उसकी जल में स्थापना की जैसे समुद्र में कमल। वहाँ पर ही ब्रह्मा ने सारा सुन्दर जगत् बनाया॥ २८॥ कामातुर उसकी अधिष्ठात्री देवी को देखकर करोड़ सूर्य के समान कान्तिवाले वराहरूपी कामुक हरि भगवान् कामातुर हो गये॥ २९॥ अपनी मनोहर मूर्त्ति बनाकर और भोग-योग्य चारपाई तैयार करके देवताओं के हज़ारों वर्षों तक दिनरात कामक्रीड़ा की॥ ३०॥ वह सुन्दरी आनन्दभोग के स्पर्श से मूर्च्छा को प्राप्त हो गई। चतुर का चतुर के साथ भोग भी सुखदायक होता है॥ ३१॥ विष्णु उसके अंगों के स्पर्श से दिन-रात बेहोश पड़े रहे। वर्ष के पीछे चेतनता को प्राप्त होकर कामी विष्णु ने कामुकी को छोड़ दिया॥ ३२॥ पहिले की भाँति ही लीला से वराहरूप धारण कर लिया और सती धरणी को याद करके उसकी पूजा करने लगे॥ ३३॥ इस गर्भ से तेजस्वी मंगल नाम का ग्रह पैदा हुआ॥ ४३॥

कहने में आप चाहे कितनी बातें कहें, किन्तु पुराणों में वर्णित अवतारों के आचरण से तो संसार को कोई धार्मिक शिक्षा नहीं मिलती।

वामनावतार

(३७) प्रश्न—'इदं विष्णुर्विचक्रमे।' [यजुः० ५।१५] इत्यादि मन्त्र में वामन अवतार का वर्णन मौजूद है। —पृ० १६९, पं० १५

उत्तर—इस मन्त्र में न तो परमेश्वर के जन्म लेने का वर्णन है और न ही पौराणिक वामनावतार का नाम है, अपितु इस मन्त्र में 'परमात्मा ने तीन प्रकार के जगत् को बनाकर आकाश में स्थित कर रक्खा है' यह वर्णन किया गया है। मन्त्र का ठीक अर्थ इस प्रकार है—

इदं विष्णुर्विचक्रमे त्रेधा निदधे पदम्। समूढमस्य पाᳪसुरे स्वाहा॥ —यजुः० ५।१५॥

भावार्थ—सब जगत् में व्यापक परमेश्वर इस जगत् को रचता हुआ, इस प्राप्त करने योग्य जगत् को तीन प्रकार से धारण करता है। इस प्रकाशवान्, प्रकाश-रहित और अदृश्य तीन प्रकार के परमाणु-आदिरूप अच्छे प्रकार देखने और दिखलाने योग्य जगत् को अन्तरिक्ष में स्थापित करता है॥ १५॥

कहिएगा, इसमें से आपका वामनावतार कैसे सिद्ध होता है?

(३८) प्रश्न—'मध्ये वामनमासीनम्।' [कठ० ५।३] इस मन्त्र में भी ईश्वर के वामनावतार की पुष्टि की है। —पृ० १६९, पं० २०

कठ उपनिषद् स्वत:प्रमाण नहीं, अपितु वेदानुकूल होने से प्रमाण हो सकता है। आपने पूरा मन्त्र दर्ज नहीं किया, वरना आपको पता लग जाता कि इस मन्त्र में न ईश्वर का वर्णन है और न ही ईश्वर के जन्म का प्रतिपादन है, अपितु इस मन्त्र में 'शरीर में जीवात्मा की स्थिति' कथन की गई है। वामन शब्द का अर्थ 'सूक्ष्म' तथा 'प्रशंसित ज्ञानवाला' है। इस मन्त्र का पूरा पाठ तथा वेदानुकूल अर्थ इस प्रकार से है—

ऊर्ध्वं प्राणमुन्नयत्यपानं प्रत्यगस्यति।
मध्ये वामनमासीनं विश्वे देवा उपासते॥ —कठ० ५।३

भाषार्थ—जो जीवात्मा प्राणवायु को ऊपर ले-जाता है और अपानवायु को हृदयदेश से नीचे फेंकता है, उस बीच में (हृदय में) स्थित सूक्ष्म, परिच्छिन्न, ज्ञानी जीवात्मा को सब इन्द्रियाँ सेवन करती हैं॥ ३॥

बतलाइए, इसमें कहीं पर ईश्वरावतार की गन्ध भी है?

(३९) प्रश्न—'वामनो ह विष्णुरास।' [शथ० १।२।२।५] में भी विष्णु के वामनावतार को सिद्ध किया गया है। —पृ० १६९, पं० २३

उत्तर—जादू वह जो सिर पर चढ़कर बोले। आपने स्वयं ही शतपथ का पाठ देकर बतला दिया कि 'वामन नाम विष्णु का है।' चूँकि विष्णु अर्थात् व्यापक परमात्मा का ही नाम वामन है, न कि परमात्मा किसी फ़रज़ी वामनरूप को धारण करके लोगों को ठगता फिरता है।

(४०) प्रश्न—इसी प्रकार वेद में समस्त अवतारों का वर्णन है। —पृ० १७०, पं० १

उत्तर—प्रथम आपने सृष्टि की सारी शक्लों को ब्रह्म की ही शक्लें सिद्ध करके सबको अवतार सिद्ध करने का यत्न किया, जोकि निष्फल गया। फिर आपने कहा कि ब्रह्म के अवतार तो सैकड़ों होते हैं, किन्तु उनमें से दश मुख्य हैं। फिर जब सिद्ध करने का समय आया तो केवल यक्ष, मत्स्य, ब्रह्मा, वराह और वामन, इन पाँच का ही वर्णन कर सके। उनमें से यक्ष का तो अवतारों में नाम ही नहीं है। रह गये चार। उनमें से भी ब्रह्मा का नाम २४ अवतारों में तो है, किन्तु दश विशेष अवतारों में ब्रह्मा का नाम नहीं है। रह गये तीन। उनमें से मत्स्यावतार के लिए वेद का कोई मन्त्र पेश नहीं किया जा सका, शतपथ का प्रमाण देकर रह गये। अब रहे दो। उन दोनों

में से वामनावतार के लिए जो वेदमन्त्र पेश किया है, उसमें वामन शब्द ही नहीं है, अपितु, विष्णु नाम से व्यापक ब्रह्म का वर्णन है। अब रह गये केवल एक वराह भगवान्। उनके लिए वेद का एक मन्त्र पेश किया जिसमें वराह अवतार का नामोनिशान भी नहीं है, अपितु वराह शब्द से मेघ का वर्णन है। जैसे आपने इन अवतारों का वर्णन वेद से सिद्ध किया, यदि समस्त अवतारों का भी इसी प्रकार का वर्णन वेदों में है तो अवतारों का अल्ला ही बेली है। और अवतार आज नहीं तो कल भी नहीं। और यदि वेद के प्रकरण, शब्द-अर्थ-सम्बन्ध को देखे बिना केवल किसी का नाम ही किसी मन्त्र में आने से वह अवतार माना जा सकता हो तो फिर अवतारों की क्या कमी है! इस प्रकार तो सभी किसी वेद के शब्द पर अपना नाम रखकर सनातन धर्म के पूज्य तथा ईश्वर का अवतार बन जाएँगे; जैसे—

(अ) हज़रत ईसा सनातन धर्म के अवतार हुए, क्योंकि '**ईशावास्यम्।**' [यजुः० ४०।१] में उनका नाम आता है। वास्तविक अर्थ ईश्वर है।

(आ) ईसा की माता मर्यम अवतार हुईं, क्योंकि '**मर्यं न योषा कृणुते।**' [ऋ० १०।४०।२] में उनका नाम आता है। वास्तविक अर्थ मनुष्य है।

(इ) कबीरजी भी अवतार हुए, क्योंकि '**कविर्मनीषी।**' [यजुः० ४०।८] में उनका नाम आता है। सही अर्थ सर्वज्ञ है।

(ई) धयापां धानकी भी अवतार हुई, क्योंकि '**धयापां प्रपीनम्।**' [यजुः० १७।८७] में उसका नाम मौजूद है। शब्दार्थ जल पीना है।

(उ) शंभु भंगी भी अवतार हुआ क्योंकि '**परिभूःस्वयंभूः।**' [यजुः० ४०।८] में उसका नाम आता है। शब्दार्थ नित्य परमात्मा है।

(ऊ) मैं भी सनातन धर्म का अवतार हूँ क्योंकि '**मनसा जुष्टा।**' [यजुः० ४।१७] में मेरा नाम मौजूद है। शब्दार्थ 'मन से' है।

(ऋ) मेरी धर्मपत्नी लक्ष्मी भी अवतार हुई क्योंकि '**श्रीश्च ते लक्ष्मीश्च।**' [यजुः० ३१।२२] में उसका नाम आता है। शब्दार्थ ऐश्वर्य है।

(ऋ) मेरा लड़का सत्य भी अवतार हुआ, क्योंकि '**ऋतं च सत्यं च।**' [ऋ० १०।१९०।१] में उसका नाम मौजूद है। शब्दार्थ प्रकृति है।

कहिएगा, क्या आप हम सबको ईश्वर का अवतार मानकर हमारी धूप-दीप से आरती उतारकर पूजने को तैयार हैं? यदि नहीं तो साफ शब्दों में स्वीकार करो कि वेदों में ईश्वर के जन्म लेने का वर्णन एक भी मन्त्र में नहीं है, अपितु वेद के सभी मन्त्र ईश्वर को अकाय, अजन्मा और व्यापक वर्णन करते हैं।

निराकार

(४१) प्रश्न—मन्त्र तथा ब्राह्मण और उपनिषत् भागों में ईश्वर को निराकार भी बतलाया गया है, किन्तु जो ग्रन्थ ईश्वर को निराकार बतलाता है वह साथ में साकार रूप का भी वर्णन कर देता है। —पृ० १७०, पं० ४

उत्तर—एक द्रव्य में दो विरुद्ध गुण नहीं रहा करते, अतः ईश्वर में निराकारता तथा साकारता दो विरुद्ध गुणों का मानना न्याय के विरुद्ध है। चारों मूलवेद, मन्त्रसंहिता ईश्वरकृत होने से स्वतः-प्रमाण हैं तथा ब्राह्मण और उपनिषद् मनुष्यकृत होने से परतःप्रमाण हैं। चारों वेदों में एक भी मन्त्र ऐसा नहीं है जो ईश्वर को साकार वर्णन करता हो। अपितु चारों वेद ईश्वर को निराकार, सर्वव्यापक तथा अकाय वर्णन करते हैं। ब्राह्मण तथा उपनिषदों में जहाँ ईश्वर को निराकार वर्णन

किया है वद वेदानुकूल होने से प्रमाण के योग्य है। यदि इन ग्रन्थों में कहीं ईश्वर को साकार वर्णन किया गया हो तो वह वेद के विरुद्ध होने से प्रमाण के योग्य नहीं हो सकता। यदि कोई ग्रन्थ ईश्वर को निराकार तथा साकार दोनों रूप में वर्णन करता हो तो वह ग्रन्थ व्याघात अर्थात् परस्पर-विरोध होने के कारण प्रमाण के योग्य नहीं समझा जा सकेगा।

(४२) प्रश्न—'स पर्यगात्।' [यजुः० ४०।८] इस मन्त्र में जहाँ **'अकायम्'** पद से ईश्वर को निराकार वर्णन किया है, वहाँ पर **'परिभूः स्वयंभूः'** इन दो पदों से चारों ओर से प्रकट होनेवाला तथा अपने-आप शरीर धारण करनेवाला बयान किया है। —पृ० १७०, पं० १०

उत्तर—इस मन्त्र में एक पद भी ईश्वर को साकार वर्णन करनेवाला नहीं है। 'परिभूः' का अर्थ है—'दुष्ट, पापियों का तिरस्कार करनेवाला' तथा **'स्वयंभूः'** का अर्थ है 'अनादिस्वरूप'। इन दोनों पदों के आपके किये हुए अर्थ स्वयं इस मन्त्र के पदार्थ से ही विरुद्ध हैं, क्योंकि जो परमात्मा **'अकायमस्नाविरम्'**—'शरीररहित तथा नाड़ी और नस के बन्धन से रहित' हो उसके लिए 'चारों ओर से प्रकट होनेवाला तथा अपने-आप शरीर धारण करनेवाला' कहना अत्यन्त असम्भव तथा असङ्गत और व्याघातदोष से दूषित है। इस मन्त्र के ठीक-ठीक अर्थ संख्या ३ पर देखने की कृपा करें।

(४३) प्रश्न—जब ईश्वर के शरीर ही नहीं तो फिर यह क्यों कहा कि —'व्रणशून्य, नस-नाड़ी के बन्धन से रहित, शुद्ध, पापशून्य' है? जब शरीर निषेध कर दिया तब तो व्रण, नस-नाड़ी और पाप तीनों का ही निषेध हो गया। शरीरधारियों के ही फोड़ा-फुंसी, नस, नाड़ी और उनसे ही पाप अनुष्ठान होता है; जब शरीर ही नहीं तो फिर व्रणादि का निषेध कैसा?

—पृ० १७०, पं० २०

उत्तर—वेद ने परमात्मा के शरीररहित होने में ये तीन हेतु वर्णन किये हैं, ताकि मनुष्यों को परमात्मा को शरीररहित होने का निश्चित ज्ञान हो जावे और परमात्मा के शरीर-धारण की भ्रान्ति निवृत्त हो जावे।

(क) **'भोगायतनं शरीरम्'** शरीर पापों के फल भोगने का ठिकाना है। शरीर को वही धारण करता है, जिसे अपने पापों का फल भोगना हो, चूँकि परमात्मा पापशून्य है, अतः वह शरीर-धारण नहीं करता।

(ख) शरीर को वही धारण कर सकता है जो परिच्छिन्न होने के कारण शरीर के अन्दर रहते हुए नाड़ी और नसों के बन्धन में फँसकर तादात्मभाव-सम्बन्ध से शरीर को अपनावे और इन्द्रियों के द्वारा सांसारिक विषयों का अनुभव करे। चूँकि परमात्मा सर्वव्यापक होने के कारण किसी एक शरीर के अन्दर रहकर नाड़ी और नसों के बन्धन में फँसकर तादात्मभाव-सम्बन्ध से किसी शरीर को नहीं अपना सकता, इसलिए वह शरीर से रहित है।

(ग) जो शरीर धारण करते हैं, उनके शरीर में धातु-विकार से फोड़े-फुंसी आदि रोग तथा शरीरधारियों का परस्पर द्वेष सम्भव होने से युद्धादि में ज़ख़्मी होना आवश्यक है। चूँकि परमेश्वर निराकार और द्वेष से शून्य है, अतः वह शरीर धारण करके विकारी और ज़ख़्मी नहीं हो सकता।

(४४) प्रश्न—किसी पुरुष ने अपने मित्र से पूछा कि आपके कोई लड़का है? उसने उत्तर दिया कि मेरे कोई लड़का नहीं और उस लड़के के एक आँख तथा एक हाथ नहीं। इसका क्या मतलब? मतलब यही निकलेगा कि इस पुरुष के निज का लड़का नहीं है; गोद लिया है और वह काना-टोंटा है। यही दशा इस अर्थ में है। —पृ० १७०, पं० २५

उत्तर—आपका यह दृष्टान्त इस मन्त्र के अर्थ के अनुकूल नहीं है। इस मन्त्र के अर्थ के अनुकूल तो यह दृष्टान्त हो सकता है कि 'वह यज्ञदत्त अविवाहित, निःसन्तान, विरक्त, विषयशून्य,

ब्रह्मचारी तथा धर्मात्मा है' यहाँ पर निःसन्तान, विरक्त तथा विषयशून्य, ये तीनों यज्ञदत्त के अविवाहित होने में हेतु हैं। इनसे यह सिद्ध नहीं हो सकता कि यज्ञदत्त वेश्यागामी है, क्योंकि ब्रह्मचारी तथा धर्मात्मा ये दो विशेषण यज्ञदत्त को वेश्यागामी सिद्ध नहीं होने देते। इसी प्रकार से '**अव्रणम्**', '**अस्नाविरम्**' तथा '**अपापविद्धम्**' ये तीनों परमात्मा के '**अकायम्**' होने में हेतु हैं। इससे यह सिद्ध नहीं हो सकता कि परमात्मा का शरीर व्रणशून्य, नस-नाड़ीरहित तथा पापशून्य होता है, क्योंकि सर्वव्यापक, सर्वज्ञ, नित्य, शुद्ध तथा सृष्टिकर्त्ता विशेषण जो इस मन्त्र में पड़े हैं वे ईश्वर को शरीरधारी सिद्ध नहीं होने देते और न ही व्रणरहित, नाड़ी-बन्धनशून्य तथा पापभोगशून्य शरीर होना सम्भव है, अतः यह कल्पना सर्वथा मिथ्या है। आपका दृष्टान्त तो उलटा हमारे पक्ष को सिद्ध करता है कि 'ईश्वर के निज का शरीर तो नहीं है, किन्तु पृथिवी, जल, वायु आदि को लाक्षणिक रूप से ईश्वर का शरीरवत् होने से शरीर कहा जा सकता है। वह वास्तविक शरीर न होगा, क्योंकि वास्तविक शरीर में तो व्रण, नाड़ीबन्धन तथा पापफलभोग का होना आवश्यक है। ईश्वर का यह लाक्षणिक शरीर इन तीनों बातों से रहित है। कहिए, महाराज! 'चौबेजी छब्बे बनने चले थे, किन्तु दुब्बे ही रह गये' वही गत आपकी हुई।

(४५) प्रश्न—'**चिञ् चयने**' धातु से '**कायम्**' पद बनता है। अर्थ यह है कि '**चिनोति सुख-दुःखादिकं पापपुण्यात्मकं यस्मिंस्तत्कायम्**=इकट्ठे किये जाते हैं सुख-दुःख और पाप-पुण्य जिसमें उसका नाम काय है।' और ईश्वर कैसा है? वह '**अकाय**' है। उसके शरीर में सुख-दुःख, पाप-पुण्यात्मक कर्मबन्धन नहीं होता। वह स्वेच्छा तनु है—अपनी इच्छा से शरीर धारण करता है, यह अर्थ '**अकायम्**' पद का है। —पृ० १७१ पं० ३

उत्तर—आपके लेख से यह सिद्ध हुआ कि ईश्वर का न तो कोई वास्तविक शरीर है और न ही वास्तव में काया है, क्योंकि शरीर तो कहते हैं 'सुख-दुःखादि कर्मों के फल भोगने के ठिकाने को' और काया कहते हैं 'जिसमें सुख-दुःख, पाप-पुण्य इकट्ठे किये जाते हैं' और सुख-दुःख, पाप-पुण्य और उनका भोग कर्मबन्धनादि ईश्वर में होता नहीं, इससे सिद्ध है कि ईश्वर शरीर या काया धारण नहीं करता। तब फिर वह क्या चीज़ है, जिसको वह धारण करता है? यह भी बतलाइए कि वह 'स्वेच्छा तनु' क्या बला है, जिसको ईश्वर अपनी इच्छा से धारण करता है और उस स्वेच्छा तनु का क्या लक्षण है, क्योंकि वह स्वेच्छा तनु वर्त्तमान मनुष्य, पशु, पक्षी आदि प्राणियों-जैसा तो हो नहीं सकता, क्योंकि यदि ऐसा होगा तो उसमें उपर्युक्त लक्षणों के बिना कोई मनुष्य, पशु, पक्षी आदि का शरीर नज़र नहीं आता कि जिसमें व्रण न हो सके, नस-नाड़ी न हों तथा सुख-दुःखादि पाप-पुण्यकर्मों के फल भोगने का ठिकाना न हो, फिर वह स्वेच्छा तनु क्या वस्तु है? आपके लेखानुसार तो राम, कृष्णादि भी अवतार सिद्ध नहीं हो सकते। राम ने वृन्दा के शाप से तथा कृष्ण ने राधा के शाप से कर्मफल भोगने के लिए जन्म लिया (देखो नं० २८)। राम मेघनाद के बाण से ज़ख़्मी होकर मूर्च्छित हुए और कृष्ण भील के तीर से ज़ख़्मी होकर मरे, अतः राम और कृष्ण दोनों के शरीर में व्रण, नाड़ी, नसबन्धन तथा पापकर्म-फलभोग मौजूद होने से ये दोनों ईश्वर के अवतार नहीं हो सकते।

(४६) प्रश्न—इस मन्त्र के उत्तरार्द्ध में 'परिभूः' शब्द है। परिभूः शब्द का अर्थ चारों तरफ़ से प्रकट होनेवाला है। जब ईश्वर परिभूः है और वह चारों तरफ़ से प्रकट होता है, शरीर धारण कर लेता है, फिर यह निराकार कैसे? —पृ० १७१, पं० १३

उत्तर—'परिभूः' शब्द का अर्थ 'चारों तरफ़ से प्रकट होनेवाला' नहीं, अपितु 'दुष्ट, पापियों का तिरस्कार करनेवाला' यह अर्थ है। महीधर भी इसका अर्थ '**परिभूः परि सर्वेषामुपर्युपरि भवतीति परिभूः**'—जो सबके ऊपर विराजमान है, उसका नाम परिभूः है, अर्थात् सबसे श्रेष्ठ है। आपका अर्थ तो स्वयं मन्त्र के अकायम् पद के ही विरुद्ध है और आप स्वयं भी मानते हैं कि

परमेश्वर वास्तविक शरीर वा काया धारण नहीं करता। (देखो नं० ४५)। हाँ, यदि आपका यह अभिप्राय हो कि निमित्तकारण ईश्वर उपादानकारण प्रकृति को कार्यरूप जगत् में प्रकट करता है और यही उसका चारों तरफ़ से प्रकट होना है और इस जगत् को ही लाक्षणिक रूप से ईश्वर का शरीरवत् होने से शरीरधारण मानते हों तो कुछ मानने की बात है, वरना ईश्वर का मनुष्य, पशु, पक्षी आदि का शरीर धारण करना वेद से सिद्ध नहीं हो सकता।

(४७) प्रश्न—परिभूः के पश्चात् ईश्वर को 'स्वयम्भूः' लिखा है। इसका अर्थ है **'स्वयं भवतीति स्वयम्भूः'** जो अपने-आप शरीर धारण करे। जब वह अपने-आप शरीर धारण करता है तो फिर उसको निराकार कौन कहेगा? —पृ० १७१, पं० १६

उत्तर—'स्वयम्भूः' का अर्थ स्वयं शरीर धारण करनेवाला नहीं, अपितु स्वयम्भूः का अर्थ-अनादिस्वरूप है। इसका अर्थ महीधर भी हमारे अनुकूल ही करते हैं—**'स्वयमेव भवतीति स्वयम्भूः स नित्य ईश्वरः'**—जो अपने-आप ही हो, अर्थात् 'नित्य ईश्वर' स्वयम्भूः का अर्थ है। यही अर्थ भविष्यपुराण में भी किया गया है—

नोत्पद्यत्त्वादपूर्ववत्त्वात् स्वयंभूरिति विश्रुतः॥ —भविष्य० ब्राह्म० १ अ० ७७ श्लो० १५

भावार्थ—चूँकि परमात्मा कभी उत्पन्न नहीं होता तथा अनादि है, इसलिए परमात्मा को स्वयम्भूः कहते हैं॥ १५॥

आपका अर्थ तो स्वयं मन्त्र के अकायम् पद के ही विरुद्ध है। हाँ, यदि आप लाक्षणिक रूप से जगत् के पैदा करने को ही शरीर-धारण करना मानते हों तो दूसरी बात है, वरना ईश्वर का मनुष्य, पशु, पक्षी आदि का शरीर धारण करना तीन काल में भी स्वयम्भूः पद से सिद्ध नहीं हो सकता।

(४८) प्रश्न—स्वयम्भूः शब्द के ऊपर **'ततः स्वयम्भूर्भगवान्'** मनु० १।६ में मनुजी भी भगवान् को प्रकट होनेवाला लिखते हैं। —पृ० १७१, पं० १९

उत्तर—इसमें परमात्मा के प्रकट होने का यही अर्थ है कि निमित्तकारण परमात्मा उपादानकारण प्रकृति से कार्यरूप जगत् बनाकर प्रसिद्ध हुआ। पूरा अर्थ देखो (नं० २३)

इस मन्त्र का महीधर-भाष्य भी हमारे पक्ष की पुष्टि करता है। यथा—

योऽयमतीतमन्त्रोक्त आत्मा स पर्यगात् परितः सर्वत्र गच्छति नभोवत्सर्वं व्याप्नोति, व्याप्य च शाश्वतीभ्यो नित्याभ्यः समाभ्यः संवत्सराख्येभ्यः प्रजापतिभ्यो याथातथ्यतः यथाभूतकर्म-फल-साधनतः, अर्थान् कर्त्तव्यपदार्थान् व्यदधात्। यथानुरूपं व्यभजदित्यर्थः। स कीदृशः? शुक्रमित्यादि विशेषणानि लिङ्गव्यत्ययेन पुंल्लिगे नेतव्यानि। शुक्रः शुद्धो दीप्तिमान्। अकायोऽशरीरः। लिंङ्गशरीरवर्जित इत्यर्थः। अव्रणोऽक्षतः। अस्नाविरः शिरारहितः। अव्रणोऽस्नाविर इति विशेषणद्वयेन स्थूलशरीरप्रतिषेधः। शुद्धो निर्मलः। अपापविद्धोऽ-धर्मादिवर्जितः। कविः सर्वदृक् 'नान्यदतोऽस्ति द्रष्टा' इति श्रुतेः। मनीषी मनस ईषिता सर्वज्ञः। परिभूः परि सर्वेषामुपर्युपरि भवतीति परिभूः। स्वयम्भूः स्वयमेव भवतीति येषामुपरि भवति यश्चोपरि भवति स स्वयमेव भवतीति स्वयम्भूः। स नित्य ईश्वरः सर्वं कृतवानित्यर्थः।

—४०।८

भाषार्थ—जो यह पिछले मन्त्र में कहा परमात्मा है वह आकाशवत् सर्वव्यापक है और सर्वव्यापक होकर नित्य प्रजापतियों के लिए जीवों के प्रति यथायोग्य कर्मफल साधन से करने योग्य पदार्थों को बनाता है—यथानुरूप विभाग कर दिया, यह भाव है। वह कैसा है? शुद्ध, दीप्तिमान्, शरीर से रहित। लिंग शरीर से रहित यह अर्थ है। घावशून्य, नाड़ी-नसरहित—घावरहित, नाड़ीशून्य इन दो विशेषणों से स्थूलशरीर का निषेध है। निर्मल, अधर्म से रहित,

सर्वदर्शी, मनीषी—सर्वज्ञ, ऊपर-ऊपर विराजमान नित्य ईश्वर ने सब-कुछ बनाया यह अर्थ है।

(४९) प्रश्न—इस एक मन्त्र को छोड़कर चारों वेदों में कोई दूसरा ऐसा मन्त्र नहीं है जो ईश्वर को निराकार कहता हो। —पृ० १७१, पं० २९

उत्तर—वेदों में ईश्वर को निराकार, अजन्मा वर्णन करनेवाले **'न तस्य प्रतिमास्ति।'** यजुः० ३२।३, **'स जायत प्रथमः।'** ऋ० ४।१।११, **'सर्वेनिमेषा जज्ञिरे।'** यजुः० ३२।२, **'अन्तरिच्छन्ति।'** ऋ० ८।७२।३, **'स पर्यगात्।'** यजुः० ४०।८, **'अपादिन्द्रः।'** ऋ० ८।६९।११, **'अजो न क्षाम्।'** ऋ० १।६७।३, **'उत नोऽहिर्बुध्न्यः।'** ऋ० ६।५०।१४, आदि-आदि हज़ारों मन्त्र भरे पड़े हैं, किन्तु समस्त वेदों में एक मन्त्र भी ऐसा नहीं है जो ईश्वर को साकार अथवा जन्म धारण करनेवाला वर्णन करता हो। यदि हिम्मत हो तो निकालकर दिखाओ!

(५०) प्रश्न—'दुर्जनतोषन्याय' से हम यह भी मान लें कि इस मन्त्र में ईश्वर को निराकार कहा है तो इतने से निराकार सिद्ध नहीं होता, क्योंकि **'ब्रह्म ह देवेभ्यः १', 'मनवे ह वै २', 'ब्रह्मा देवानाम् ३', 'उद्धृताऽसि वराहेण ४', 'इयती ह वा ५', 'मध्ये वामनम् ६', 'वामनो ह विष्णुः ७', 'तदेवाग्निः ८', 'पुरुष एवेदं ९', 'एषो ह देवः १०', 'प्रजापतिश्चरति ११', 'ब्रह्मज्येष्ठा १२', 'वराहेण पृथिवी १३', 'इदं विष्णुः १४'** प्रभृति प्रमाणों से वेद ने ईश्वर को साकार बतलाया है। क्या इन वेद के प्रमाणों को कोई मनुष्य दबा लेगा?—पृ० १७२, पं० २

उत्तर—दबाने की क्या ज़रूरत है, जबकि इन प्रमाणों से ईश्वर का साकार होना सिद्ध ही नहीं होता। प्रथम के ७ प्रमाण तो आपने जनता को भ्रम में डालने के लिए वेद के नाम से जाली दिये हैं, क्योंकि ये प्रमाण वेद के नहीं हैं, अपितु, ब्राह्मण तथा उपनिषदों के हैं। ब्राह्मण तथा उपनिषदों के प्रमाण वहाँ तक ही मानने योग्य हैं जहाँ तक वे वेदानुकूल हों। वेद से विरुद्ध होने पर वे प्रमाण नहीं माने जा सकते, तथापि इन समस्त प्रमाणों में एक भी प्रमाण ऐसा नहीं है जो ईश्वर को साकार या अवतार धारण करनेवाला वर्णन करता हो। इन समस्त प्रमाणों के विषय में अपने-अपने स्थान में विस्तारपूर्वक लिख दिया है, वहाँ पर देखने की कृपा करें।

(५१) प्रश्न—उपनिषदों में ईश्वर को निराकार प्रतिपादन किया है, साथ ही साथ परमात्मा को साकार भी बतला दिया है। —पृ० १७२ पं० १२

उत्तर—वेदों में ईश्वर को निराकार ही वर्णित किया है। उपनिषदों के जो प्रमाण ईश्वर को निराकार वर्णन करते हैं, वे वेदानुकूल होने से प्रमाण माने जावेंगे। यदि उपनिषदों का कोई प्रमाण ईश्वर को साकार वर्णन करता होगा तो वह वेदविरुद्ध होने से प्रमाण न माना जा सकेगा, क्योंकि उपनिषदें परतःप्रमाण हैं।

(५२) प्रश्न—सर्वेन्द्रियगुणाभासं सर्वेन्द्रियविवर्जितम्।
सर्वस्व प्रभुमीशानं सर्वस्य शरणं बृहत्॥ १७॥
अपाणिपादो जवनो ग्रहीता पश्यत्यचक्षुः स शृणोत्यकर्णः।
स वेत्ति वेद्यं न च तस्यास्ति वेत्ता तमाहुरग्र्यं पुरुषं पुराणम्॥ १९॥

—श्वेताश्वतर० अ० ३

भाषार्थ—सब इन्द्रियों के विषयों को प्रकाश देनेवाला, समस्त इन्द्रियरहित, सबका प्रभु, स्वामी, सबका रक्षक, सबसे बड़ा ईश्वर है॥ १७॥ ईश्वर के हाथ और पैर नहीं, किन्तु बिना पैर के चलता है और बिना हाथ के पकड़ता है। ईश्वर के नेत्र नहीं किन्तु वह देखता है, कान नहीं परन्तु सुनता है। वह समस्त जानने योग्य पदार्थों को जानता है, किन्तु उस ईश्वर का जाननेवाला कोई नहीं। उसको अग्र—सबसे प्रथम वर्त्तमान पुराणपुरुष कहते हैं॥ १९॥

इन दो श्रुतियों से निराकार सिद्ध करना कुछ बहुत बड़ी बुराई नहीं है। —पृ० १७२, पं० १८

उत्तर—उपनिषत् के मन्त्रों का नाम श्रुति नहीं। श्रुति केवल वेद के लिए ही कहा जा सकता है। इन प्रमाणों से ईश्वर निराकार सिद्ध करना उत्तम गुण है, और उपनिषत् के ये प्रमाण वेदानुकूल होने से मानने के क़ाबिल हैं।

(५३) प्रश्न—बुराई तो यह है कि इसी श्वेताश्वतरोपनिषद् में **'एषो ह देवः'** २।१६ की श्रुति को, जो ईश्वर का अवतार होना सिद्ध करती है, छिपा लिया जाता है।

—पृ० १७३, पं० ६

उत्तर—न ही उपनिषद् का यह प्रमाण अवतार होना सिद्ध करता है और न ही इसे छिपाने की आवश्यकता है, क्योंकि उपनिषद् में आया हुआ यजुर्वेद (३२।४) का मन्त्र ईश्वर को सर्वव्यापक तथा निराकार वर्णन करता है। पूरा मन्त्र तथा ठीक अर्थ देखो (नं० २५)।

(५४) प्रश्न—यत्तदद्रेश्यमग्राह्यमगोत्रमवर्णमचक्षुःश्रोत्रं तदपाणिपादम्।
नित्यं विभुं सर्वगतं सुसूक्ष्मं तदव्ययं तद् भूतयोनिं
परिपश्यन्ति धीराः॥ ६॥ —मुण्डक १।१

भाषार्थ—जो ईश्वर अदृश्य है, अग्राह्य है, अगोत्र है, वर्णरहित है, जिसके चक्षु नहीं, जिसके कान नहीं, हाथ नहीं, पैर नहीं, नित्य है, विभु है, सर्वव्यापक है, जो सूक्ष्म है, जो अव्यय है, समस्त भूतों की योनि है। उसको धीरपुरुष देखते हैं। निराकार विषय में इसका प्रमाण देना न्याय है। —पृ० १७३, पं० १८

उत्तर—ठीक है, मुण्डकोपनिषत् का यह लेख वेदानुकूल होने से प्रमाण है।

(५५) प्रश्न—किन्तु अन्याय यह है कि **'ब्रह्मा देवानां प्रथमः सम्भभूव'** यह मुण्डक की श्रुति जो ईश्वर को साकार बतलाती है, इसको छिपा लिया जाता है। —पृ० १७३, पं० २७

उत्तर—इस मन्त्र में ईश्वर का ज़िक्र ही नहीं है, अपितु ब्रह्मा नामवाले ऋषि का वर्णन है। पूरा पाठ तथा ठीक अर्थ देखो (नं० ३३)।

(५६) प्रश्न—जो लोग यह कहते हैं कि हम वेद को स्वतःप्रमाण और उपनिषदों को वेदानुकूल होने पर प्रमाण मानते हैं वे ही वेद में आई हुई **'एषो ह देवः'** श्रुति को छिपाते हैं और जो **'सर्वेन्द्रियगुणाभासम्'** तथा **'अपाणिपादः'** श्रुतियाँ वेद में नहीं आई उनको स्वतःप्रमाण मानते हैं। —पृ० १७३, पं० १२

उत्तर—हम लोग **'सर्वेन्द्रियगुणाभासम्'** तथा **'अपाणिपादः'** इन उपनिषद् के मन्त्रों को स्वतःप्रमाण नहीं मानते। अपितु **'स पर्यगात्'** इस वेदमन्त्र के अनुकूल होने से प्रमाण मानते हैं। हम **'एषो ह देवः'** प्रमाण को छिपाते भी नहीं हैं। जब आप स्वयं मानते हैं कि यह मन्त्र यजुर्वेद का है तो फिर आप स्वामी दयानन्दजी के यजुर्वेदभाष्य में देखें। इसपर भाष्य किया है या नहीं। यदि किया है तो फिर आपका यह कहना कि इस श्रुति को छिपाते हैं, सर्वथा मिथ्या और भ्रमोत्पादक है।

(५७) प्रश्न—ईश्वर के विषय में वेद का अभिप्राय यह है कि वह प्रलयकाल में अरूप रहता है। वह अरूप ब्रह्म इच्छाशून्य, अविज्ञेय, अनिर्वचनीय है, किन्तु इस ब्रह्म का अंश मायिक ब्रह्म कहलाता है। उसमें जहाँ इच्छा होती है, वहाँ संसार को अपने शरीर से उत्पन्न करता है।

—पृ० १७४, पं० ५

उत्तर—आप वेद का नाम लेकर अपने कपोलकल्पित अभिप्राय को प्रकट कर रहे हैं, वरना आपके इस अभिप्राय का एक भी वेदमन्त्र ने अनुमोदन नहीं किया। वह सनातन ब्रह्म सदा एकरस और निर्विकार है। कालभेद से उसमें परिवर्तन नहीं होता, क्योंकि परिणामी पदार्थ नित्य नहीं हो सकता, अतः ब्रह्म सदा ही व्यापक, निराकार, निर्विकार और रूपरहित है। यह माया क्या वस्तु

है, यह ब्रह्म से भिन्न पदार्थ है या माया अथवा अविद्या ब्रह्म का ही गुण है? यदि भिन्न पदार्थ है तो आपने माया कहा हमने प्रकृति कह दिया—भेद क्या पड़ा? और यदि यह अविद्या ब्रह्म का ही गुण है तो वह ब्रह्म अज्ञानी होकर ब्रह्म कहाने के योग्य न रहेगा। कोई गुण किसी पदार्थ के एक अंश में नहीं रहा करता और न ही ईश्वर में अंशांशी भाव हो सकता है, क्योंकि वह अनन्त है। जब आप ब्रह्म को इच्छाशून्य लिख रहे हैं तो उसमें इच्छा आई कहाँ से? क्या अभाव से भाव हो गया? यदि ब्रह्म ने अपने शरीर से जगत् को रचा है तो जगत् में ब्रह्म के गुण क्यों नहीं? अत: आपकी समस्त कल्पना वेदविरुद्ध और मिथ्या है। वास्तव में निमित्तकारण ब्रह्म ने साधारणकारण जीवों के लिए उपादानकारण प्रकृति से जगत् को बनाया। यही सिद्धान्त वेदानुकूल और सत्य है।

(५८) प्रश्न—जिस प्रकार मिट्टी से घट, लोहे से कुल्हाड़ी और सुवर्ण से कटक, अंगूठी बनती है, उसी प्रकार यह समस्त संसार ब्रह्म से बनता है। जैसे घट मिट्टी से और कुल्हाड़ी लोहे से तथा कड़े, अंगूठी सोने से भिन्न नहीं हैं, ऐसे ही यह संसार ब्रह्म से भिन्न नहीं है। जितनी शकलें छोटी-बड़ी, लम्बी चौड़ी, संसार में दीख रही हैं, ये सब ब्रह्म की शकलें हैं।

—पृ० १७४, पं० ८

उत्तर—जैसे घट में मिट्टी के, कुल्हाड़ी में लोहे के, कटक तथा अंगूठी में सोने के गुण वर्त्तमान हैं, वैसे ही इस समस्त संसार में ब्रह्म के चैतन्य, सर्वज्ञता आदि गुण क्यों वर्त्तमान नहीं हैं? अत: इस संसार का उपादानकारण ब्रह्म नहीं, अपितु प्रकृति है। हाँ, व्याप्य-व्यापकभाव से सारा ही संसार ब्रह्म से भिन्न नहीं है, स्वरूप से भिन्न है। ये जितनी शक्लें नज़र आ रही हैं, वे सब प्रकृति की हैं, ब्रह्म की नहीं हैं।

(५९) प्रश्न—इस अभिप्राय को लेकर वेद ने व्यापकत्व और सर्वस्वरूपत्व दो भेदों से प्रजापति को साकार बतलाया। संसार में ईश्वर अनेक रूप धारण करके आता है। इसी को अवतार कहते हैं।

—पृ० १७४, पं० १२

उत्तर—वेद का कोई मन्त्र आप ईश्वर को साकार सिद्ध करने में पेश नहीं कर सके। व्याप्य के साकार होने से व्यापक साकार नहीं बनता। ब्रह्म संसार का **'अभिन्न-निमित्तोपादानकारण'** नहीं है अपितु ईश्वर, जीव, प्रकृति—संसार के तीन अनादि कारण हैं। ईश्वर अजन्मा, शरीररहित है, वह कभी जन्म-मरण में नहीं आता।

(६०) प्रश्न—किन्तु ब्रह्माण्डों से बाहर जो ब्रह्म है वह अब भी अरूप है, इस कारण से वेद ने प्रजापति को रूपरहित (निराकार) और रूपवान् (साकार) दो प्रकार का बतलाया है।

—पृ० १७४, पं० १८

उत्तर—ईश्वर इस जगत् के अन्दर और बाहर एकरस निर्विकार, व्यापक, निराकार, रूपरहित सदा से वर्त्तमान है। वेद का एक मन्त्र भी आप ब्रह्म के दो रूप होने में पेश नहीं कर सके। आपने जो शतपथ तथा बृहदारण्यक के दो प्रमाण दिये हैं, उनमें से एक में यज्ञ के तथा दूसरे में प्रकृति के दो-दो रूप वर्णन किये हैं, ब्रह्म के नहीं, अत: सिद्ध हुआ कि वेद ईश्वर को अजन्मा, निर्विकार, निराकार वर्णन करता है, जन्म धारण करनेवाला विकारी तथा साकार वर्णन नहीं करता, क्योंकि जो जन्मा है वह अवश्य मृत्यु को प्राप्त होता है। जो ईश्वर जगत् की उत्पत्ति-स्थिति-प्रलय करता है उसके सामने कंस और रावणादि एक कीड़ी के समान भी नहीं। वह सर्वव्यापक होने से कंस, रावणादि के शरीरों में भी परिपूर्ण हो रहा है। जब चाहे उसी समय मर्मच्छेदन कर नाश कर सकता है। भला! उस अनन्त गुण-कर्म-स्वभावयुक्त परमात्मा को एक क्षुद्र जीव को मारने के लिए जन्म-मरणयुक्त कहनेवाले को मूर्खपन से अन्य कुछ विशेष उपमा मिल सकती

है? और जो कोई कहे कि भक्तजनों का उद्धार करने के लिए जन्म लेता है तो भी सत्य नहीं, क्योंकि जो भक्तजन ईश्वर की आज्ञानुकूल चलते हैं, उनके उद्धार करने का पूरा सामर्थ्य ईश्वर में है। क्या ईश्वर के पृथिवी, सूर्य, चन्द्रादि जगत् का बनाने, धारण और प्रलय करनेरूप कर्मों से कंस, रावण आदि का वध और गोवर्धनादि पर्वतों का उठाना बड़े कर्म हैं? जो कोई इस सृष्टि में परमेश्वर के कर्मों का विचार करे तो ईश्वर के सदृश न कोई है, न होगा; और युक्ति से भी ईश्वर का जन्म सिद्ध नहीं होता, जैसे कोई अनन्त आकाश को कहे कि गर्भ में आया वा मुट्ठी में धर लिया—ऐसा कहना कभी सच नहीं हो सकता, क्योंकि आकाश अनन्त और सबमें व्यापक है। इससे न आकाश बाहर आता और न भीतर जाता, वैसे ही परमात्मा के अनन्त और सर्वव्यापक होने से उसका आना-जाना कभी सिद्ध नहीं हो सकता। जाना वा आना वहाँ हो सकता है जहाँ कोई न हो। क्या परमेश्वर गर्भ में व्यापक नहीं था जो कहीं से आया, और बाहर नहीं था जो भीतर से निकला? ऐसा ईश्वर के विषय में विद्याहीनों के सिवाय कौन कह और मान सकेगा! इसलिए परमेश्वर का आना-जाना, जन्म-मरण कभी सिद्ध नहीं हो सकता और ईश्वर साकार भी नहीं है, क्योंकि जो साकार होता तो व्यापक न होता। जब व्यापक न होता तो सर्वज्ञादि गुण भी ईश्वर में न घट सकते, क्योंकि परिमित वस्तु में गुण-कर्म-स्वभाव भी परिमित रहते हैं तथा वह शीतोष्ण, क्षुधा-तृषा-रोग, दोष और छेदन-भेदन आदि से रहित नहीं हो सकता। इससे यही निश्चित है कि ईश्वर निराकार है। जो साकार हो तो उसके नाक, कान, आँख आदि अवयवों का बनानेवाला दूसरा होना चाहिए, क्योंकि जो संयोग से उत्पन्न होता है उसको संयुक्त करनेवाला निराकार चेतन अवश्य होना चाहिए। जो कोई यहाँ ऐसा कहे कि ईश्वर ने स्वेच्छा से आप-ही-आप अपना शरीर बना लिया तो भी यही सिद्ध हुआ कि शरीर बनने के पूर्व वह निराकार था। परमात्मा कभी शरीर धारण नहीं करता, किन्तु निराकार होने से सब जगत् को सूक्ष्म कारणों से स्थूलाकार बना देता है। अच्छा, भला यह तो बतलाने की कृपा करें कि एक ही समय में अनेक अवतारों की क्या आवश्यकता थी? ब्रह्मा, विष्णु, महादेव तीनों अवतार एक ही समय में हुए। कृष्ण, बलराम तथा अर्जुन एक ही समय में, राम और परशुराम एक ही समय में! फिर अवतार की अवतार से लड़ाई! राम और परशुराम तथा विष्णु और शिव तथा ब्रह्मा और शिव की लड़ाइयाँ प्रसिद्ध हैं और यह भी बतावें कि अवतारों में विशेषता क्या थी? राम कौसल्या के गर्भ से तो कृष्ण देवकी के गर्भ से पैदा हुए। कृष्ण भील के तीर से मरे तो राम ने सरयू में डूबकर प्राण त्यागे। कृष्ण के शरीर को चिता में जलाया गया। राम को सुग्रीव तथा बाली में पहिचान न हुई; जटायु के बिना सीता के ले-जानेवाले का पता न लगा। हनुमान् के बिना सीता का पता न लगा। रोते रहे, ढूँढते फिरे। कृष्ण जरासंध से डरकर द्वारका चले गये; द्यूत का पता न लगा इत्यादि इनसानों के लक्षण हैं या परमेश्वर के? अतः सिद्ध हुआ कि राम, कृष्णादि मनुष्य थे, परमेश्वर न थे।

अवतारवाद और स्वामी दयानन्द

(६१) प्रश्न—यथेमां वाचं कल्याणीमावदानि जनेभ्यः।
ब्रह्मराजन्याभ्याꣳ शूद्राय चार्याय च स्वाय
चारणाय च...इत्यादि —यजुः० २६।२

भावार्थ—हे मनुष्यो! मैं ईश्वर जैसे **(ब्रह्मराजन्याभ्याम्)** ब्राह्मण, क्षत्रिय **(अर्याय)** वैश्य **(शूद्राय)** शूद्र **(च)** और **(स्वाय)** अपने स्त्री, सेवकादि **(च)** और **(अरणाय)** उत्तम लक्षणयुक्त अन्त्यज के लिए **(च)** भी **(जनेभ्यः)** इन उक्त सब मनुष्यों के लिए **(इह)** इस संसार में **(इमाम्)** इस प्रकट की हुई **(कल्याणीम्)** सुख देनेवाली **(वाचम्)** चारों वेदरूप

वाणी का **(आवदानि)** उपदेश करता हूँ, वैसे आप लोग भी अच्छे प्रकार उपदेश करें, इत्यादि।
—स्वामी दयानन्दकृत भाष्य

इस मन्त्र के भाष्य में स्वामीजी ने ईश्वर के स्त्री तथा नौकरों का होना तथा उनका वेद पढ़ना लिखा है। जब ईश्वर के स्त्री है, तो ईश्वर का अवतार लेना तथा साकार होना स्पष्ट है, क्योंकि निराकार के स्त्री तथा नौकर नहीं हो सकते। —पृ० २, पं० ३

उत्तर—यहाँ पर स्त्री शब्द पत्नी (बीवी) अर्थों में नहीं है, अपितु परमात्मा की प्रजा में जो स्त्रीजाति (औरतें) हैं उनके लिए प्रयुक्त किया गया है और सेवक शब्द नौकर के अर्थों में नहीं, अपितु परमात्मा के भक्त, उपासक के अर्थों में आया है। संसार के समस्त स्त्री और पुरुष परमात्मा की प्रजा होने से परमात्मा का '**स्व**' अर्थात् 'मिलकियत' और परमात्मा उन सबका स्वामी अर्थात् 'मालिक' है। यद्यपि परमात्मा का '**स्व**' संसार की समस्त वस्तुएँ तथा सारे ही प्राणी हैं तथापि यहाँ पर वेदवाणी का प्रकरण होने से और मनुष्य से भिन्न प्राणियों का ग्रहण नहीं किया, क्योंकि वेद का प्रकाश केवल मनुष्यों के लिए ही है। मनुष्य-जाति के दो भेद हैं—स्त्री और पुरुष, अतः परमात्मा ने 'स्वाय' शब्द से वेद के अधिकारी अपनी प्रजा स्त्री-सेवकादि सबका वर्णन कर दिया। निम्न कारणों से यहाँ स्त्री का अर्थ पत्नी नहीं है—

(क) परमात्मा को वेद ने अकाय कहा है, शरीररहित की पत्नी नहीं हो सकती।

(ख) स्वामी दयानन्दजी ने अपने ग्रन्थों में अवतारवाद का बलपूर्वक खण्डन किया है, अतः उनके भाष्य से अवतारवाद सिद्ध करने का यत्न वक्ता के अभिप्राय के विरुद्ध अनधिकार चेष्टा है।

(ग) स्त्री शब्द का अर्थ सर्वत्र पत्नी नहीं है। जैसे—

स्त्रीणां सुखोद्यमक्रूरं विस्पष्टार्थं मनोहरम्। —मनु० २।३३

स्त्रियों का नाम सुख से उच्चारण करने योग्य, क्रूरतारहित, सुन्दर तथा स्पष्ट अर्थोंवाला हो। यहाँ ११ दिन की आयुवाली को स्त्री कहा है। यह श्लोक नामकरण-संस्कार का विधायक है। क्या यहाँ पत्नी अर्थ सम्भव है?

अमन्त्रिका तु कार्येयं स्त्रीणामावृदशेषतः। —मनु० २।६६

स्त्रियों के जातकर्मादि सम्पूर्ण संस्कार बिना विचारे ही कर देने चाहिएँ।

इत्यादि अनेक प्रमाण दिये जा सकते हैं, जहाँ स्त्री शब्द पत्नी का वाचक नहीं अपितु स्त्रीजाति (औरत) का वाची है।

(घ) योग्यता के विरुद्ध होने से यहाँ स्त्री शब्द पत्नीवाची नहीं, जैसे महाभारत में जब कृष्णजी सन्धि-वार्त्तार्थ जाने लगे तो द्रौपदी ने रोते हुए कहा कि सन्धि के समय मेरे अपमान को याद रखना। तब—

तामुवाच महाबाहुः केशवः परिसान्त्वयन्।
अचिरात् द्रक्ष्यसे कृष्णे रुदतीर्भरतस्त्रियः॥

—महा० उद्योग० अ० ८२, श्लोक ४४

महाभुजा कृष्ण ने शान्त करते हुए द्रौपदी से कहा—'हे कृष्णे! तू भरत की स्त्रियों को शीघ्र ही रोती हुई देखेगी।'

यहाँ पर कृष्ण का संकेत कौरवों की स्त्रियों की ओर है, तो क्या कौरवों की सब स्त्रियाँ भरत की पत्नियाँ थीं? कदापि नहीं, क्योंकि भरत कौरवों के वंश का आदिपुरुष था तथा उसको मरे हुए सैकड़ों वर्ष हो चुके थे। योग्यता के अनुसार जैसे यहाँ पर 'भरत की स्त्रियों' से अभिप्राय

'भरतवंश की स्त्रियाँ' लिया जाएगा।

प्रस्तुत मन्त्र से ईश्वर का अवतार तथा उसका साकार होना सिद्ध नहीं हो सकता, अतः वेदप्रतिपादित ईश्वर में पत्नी-कल्पना तथा अवतारभ्रान्ति तो निरर्थक ही है; पौराणिक ईश्वर की पत्नियों की सेना अवश्य वर्णन की गई है। जैसे—

(अ) आपने अपनी पुस्तक के पृ० १९३, पं० २२ में ईश्वर के दो स्त्रियाँ बतलाई हैं।

(आ) **साक्षाज्जारश्च गोपीनां दुष्टः परमलम्पटः॥ ६१॥**
आगत्य मथुरां कुब्जां जघान मैथुनेन च॥ ६२॥
वृषभानुसुता राधा सुदाम्नः शापकारणात्॥ ८६॥
त्रिंशत्कोटिं च गोपीनां गृहीत्वा भर्तुराज्ञया।
पुण्यं च भारतं क्षेत्रं गोलोकादाजगाम सा॥ ८७॥
ताभिः सार्धं स रेमे च स्वपत्नीभिर्मुदान्वितः।
पाणिं जग्राह राधायाः स्वयं ब्रह्मा पुरोहितः॥ ८८॥

—ब्रह्मवै० कृष्णजन्म० अ० ११५

भाषार्थ—कृष्णजी गोपियों के साक्षात् यार, दुष्ट तथा अतिलम्पट थे॥ ६१॥ मथुरा में आकर कुब्जा को मैथुन से मार डाला॥ ६२॥ वृषभानु की पुत्री राधा, सुदामा के शाप से॥ ८६॥ पति की आज्ञा से तीस करोड़ गोपियों को साथ में लेकर गोलोक से पवित्र भारतवर्ष में आई॥ ८७॥ वह कृष्णजी उन अपनी पत्नियों के साथ प्रसन्नतापूर्वक रमन करते रहे। स्वयं ब्रह्मा ने पुरोहित बनकर राधा का पाणिग्रहण कृष्ण को करवाया॥ ८८॥

इत्यादि अनेक प्रमाण पौराणिक ईश्वर के विषय में मिल सकते हैं। हम विस्तार-भय से इतने पर ही बस करते हैं। तीस करोड़ पत्नियों के साथ काम-क्रीड़ा से रमण तो करे पौराणिकों का सोलह-कला सम्पूर्ण ईश्वरावतार कृष्ण, तथा अवतार धारण करने और साकार होनेका कलंक लगाया जावे वैदिक निराकार, अजन्मा, सर्वव्यापक ईश्वर पर, यह कहाँ का न्याय है?

(६२) प्रश्न—स्वामीजी ने आर्याभिविनय में नं० ४४ पर '**यो विश्वस्य जगतः।**' [ऋ० १।७।१२।५] मन्त्र का भाष्य करते हुए '**सख्याय हवामहे**' इन पदों का यह अर्थ किया है कि 'परमात्मा को सखा होने के लिए अत्यन्त प्रार्थना से गद्‌गद होके बुलावें'; चूँकि बुलाना तथा मित्र बनाना साकार का ही हो सकता है, निराकार का नहीं, इससे ईश्वर का अवतार लेना तथा साकार होना स्पष्ट सिद्ध है। —पृ० ३, पं० २४

उत्तर—यहाँ पर 'बुलावें' के अर्थ दूर देश से बुलाने के नहीं हैं अपितु 'सम्बोधित करें', 'पुकारें' अर्थात् ईश्वर को अपनी तरफ़ 'मुख़ातिब' करें। अपने हृदय से परमेश्वर को 'मित्रता के लिए स्वीकार करें' ऐसा अर्थ है। इसमें निम्नलिखित प्रमाणों पर ध्यान देने की कृपा करें—

(क) इस मन्त्र में ही आरम्भ में यह लेख विद्यमान है कि 'जो सब जगत् **(स्थावर)** जड़, अप्राणी का और **(प्राणतः)** चेतनावाले जगत् का **(पतिः)** अधिष्ठाता और पालक है।' अधिष्ठाता के अर्थ हैं आधार, सहारा। जो सारे जगत् का सहारा होगा उसे एकदेशी समझकर बुलाना इस मन्त्रार्थ के ही अनुकूल नहीं है, क्योंकि सर्वव्यापक ही सारे जगत् का सहारा हो सकता है। परमात्मा को सारे जगत् में व्यापक वर्णन करनेवाले के अर्थ में से 'बुलावें' के अर्थ दूर देश से बुलाना संगत ही नहीं हो सकते।

(ख) स्वामीजी ने इसी मन्त्र का अर्थ अपने ऋग्वेदभाष्य में करते हुए इन पदों के अर्थ इस प्रकार किये हैं—

संस्कृतभाष्य—(**सख्याय**) सख्युः कर्मणे भावाय वा (**हवामहे**) स्वीकुर्महे।

भाषार्थ—(**सख्याय**) मित्रपन के लिए (**हवामहे**) स्वीकार करते हैं।

इससे स्पष्ट सिद्ध है कि स्वामीजी का अभिप्राय 'बुलावें' शब्द से दूर देश से बुलाने का नहीं अपितु स्वीकार करने का है, अतः इससे ईश्वर का अवतार तथा उसका साकार होना सिद्ध नहीं हो सकता। हाँ, यदि आपके ईश्वर को बुलाने, उसके आने-जाने आदि के दृश्य देखना स्वीकार हैं, तो वे पुराणों से आपको भली-भाँति दिखाये जा सकते हैं। देखिए, ब्रह्मवैवर्तपुराण में कुब्जा की ईशवरभक्ति का वर्णन इस प्रकार है—

कर्मणा मनसा वाचा चिन्तयन्ती हरेः पदम्।
हरेरागमनं चापि मुखचन्द्रं मनोहरम्॥ ३५॥
जगत् कृष्णमयं शश्वत्पश्यन्ती कामुकी मुने।
कोटिकन्दर्पलीलाभं कामसक्तं च कामुकम्॥ ३६॥
निद्रां च लेभे सा कुब्जा निद्रेशोऽपि ययौ मुदा॥ ५३॥
बोधयामास तां कृष्णो न दासीश्चापि निद्रिताः॥ ५५॥
त्यज निद्रां महाभागे श्रृंगारं देहि सुन्दरि॥ ५६॥
इत्युक्त्वा श्रीनिवासश्च कृत्वा तामेव वक्षसि।
नग्नां चकार श्रृंगारं चुम्बनं चापि कामुकीम्॥ ५९॥
सा सस्मिता च श्रीकृष्णं नवसंगमलज्जिता।
चुचुम्बे गण्डे क्रोडे तां चकार कमलां यथा॥ ६०॥

सुरतेर्विरतिर्नास्ति दम्पती रतिपण्डितौ। नानाप्रकारसुरतं बभूव तत्र नारद॥ ६१॥
स्तनश्रोणियुग्मं वीर्याधानं च चकार ह। भगवान्नखैस्तीक्ष्णैर्दशनैरधरं वरम्॥ ६२॥
निशावसानसमये वीर्याधानं चकार सः। सुखसम्भोगभोगेन मूर्च्छामाप च सुन्दरी॥ ६३॥
भगवानपि तत्रैव क्षणं स्थित्वा स्वमन्दिरम्। जगाम यत्र नन्दश्च सानन्दो नन्दनन्दनः॥ ६९॥

—ब्रह्मवै० कृष्णजन्म० अ० ७२

भावार्थ—कुब्जा मन, वाणी, कर्म से हरि अर्थात् कृष्ण के पैरों, मनोहर चन्द्र-समान मुख तथा कृष्ण के आने का विचार करने लगी॥ ३५॥ और करोड़ों कामदेव के समान शोभायमान, काम में आसक्त, कामी कृष्ण को याद करते हुए उस कामुकी को निरन्तर सारा जगत् कृष्णमय नज़र आता था॥ ३६॥ वह कुब्जा सो गई और निद्रा के स्वामी कृष्ण भी वहाँ प्रसन्नता से गये॥ ५३॥ कृष्ण ने कुब्जा को जगा लिया। सोई हुई दासियों को नहीं जगाया॥ ५५॥ हे सुन्दरी महाभाग्यवाली! निद्रा को छोड़, श्रृंगार दान कर॥ ५६॥ यह कहकर श्रीकृष्ण ने कुब्जा को बग़ल में लेकर चुम्बन किया और उस कामुकी को नंगा करके भोग करना आरम्भ किया॥ ५९॥ वह नये संगम से लज्जित हुई मुस्कराकर कृष्ण को नंगा करके चुम्बन करने लगी। तब कृष्ण ने उसका कपोल चूमकर उसे लक्ष्मी की भाँति गोद में ले लिया॥ ६०॥ चूँकि दोनों का जोड़ा कामभोग करने में चतुर था, इसलिए कामभोग का अन्त ही न था। हे नारद! वहाँ नाना प्रकार से कामभोग किया गया॥ ६१॥ भगवान् कृष्ण ने उसके स्तनयुगल को तेज़ नाखूनों से ज़ख़्मी कर दिया और दाँतों से होठों को काट खाया॥ ६२॥ उस कृष्ण ने रात के अन्त में वीर्याधान कर दिया। सुख-सम्भोग के भोग से वह सुन्दरी मूर्च्छित हो गई॥ ६३॥ भगवान् कृष्ण भी वहाँ थोड़ी देर ठहरकर अपने मकान को चले गये, जहाँ पर नन्दजी आनन्दपूर्वक ठहरे हुए थे॥ ६९॥

आशा है अब भगवान् के याद करने, भगवान् के आने, और भक्त का उद्धार करके वापस

जाने के इस विचित्र दृश्य से आप अवश्य ही प्रसन्न हो गये होंगे।

(६३) प्रश्न—स्वामी दयानन्दजी ने आर्याभिविनय में मन्त्र नं० ४९ पर **'मा नो वधीरिन्द्र'** इत्यादि (ऋ० १।७।१९।८) का भाष्य करते हुए **'मा नः भोजनानि प्रमोषीः'** का अर्थ किया है कि 'हमारे प्रिय भोगों को मत चोर और मत चुरवावै'। पदार्थों की चोरी करना बिना शरीरधारी के हो नहीं सकता। इससे सिद्ध है कि ईश्वर अवतार लेता है और वह साकार है।

—पृ० ४, पं० १८

उत्तर—यहाँ पर 'मत चोरे और मत चुरवावै' का अर्थ वह नहीं है जो कि प्रचलित भाषा में प्रसिद्ध है, अपितु इसका अर्थ यह है कि हे ईश्वर! आप हमारे प्रिय भोगों को हमारे से पृथक् न करें तथा उनकी रक्षा करें। इस बारे में हम निम्नलिखित प्रमाण पेश करते हैं—

(क) आर्याभिविनय में स्वामीजी ने इस मन्त्र के अर्थ करते हुए अन्त में अपने अभिप्राय को स्पष्ट करने के लिए साफ़ लिख दिया है कि 'अर्थात् कृपा करके पूर्वोक्त सब पदार्थों की यथावत् रक्षा करो' इससे सिद्ध है कि 'मत चोरे और मत चुरवावै' से स्वामीजी का अभिप्राय 'यथावत् रक्षा करो और करावो' यही है, अन्यथा नहीं है।

(ख) स्वामीजी का पत्र-व्यवहार प्रथम भाग, जोकि पं० भगवद्दत्तजी ने छपवाया है, उसके पृ० ५३ पर स्वामीजी का पत्र छपा हुआ है जो स्वामीजी ने संस्कृत में अमरीका-निवासी अलकाट साहब को लिखा था। उस पत्र में पंक्ति १३ पर इस मन्त्र का अर्थ करते हुए उपर्युत विवादास्पद पदों का अर्थ इस प्रकार से किया है कि—

नोऽस्माकं प्रियाणि भोजनान्यभीष्टान् भोगान् मा प्रमोषीः पृथङ् मा कुरु।

भावार्थ—हमारे प्यारे भोजन, अभीष्ट भोगों को पृथक् मत करें।

इससे स्वामीजी ने अपने अभिप्राय को साफ़ तौर से वर्णन कर दिया है, अतः इस लेख से ईश्वर का अवतार होना या उसे साकार सिद्ध करना बालू से तेल निकालने के समान असम्भव है।

हाँ, पौराणिक अवतारों में चोरी, धोखा, छल, कपट आदि दुर्व्यसन होने से, वे ईश्वर-अवतार होने के योग्य नहीं हो सकते; जैसे—

(क) राम का झूठ—

कृतदारोऽस्मि भवति भार्येयं दयिता मम॥ २॥
श्रीमानकृतदारश्च लक्ष्मणो नाम वीर्यवान्॥ ३॥ —वाल्मी० अरण्य० सर्ग १८
जनकस्य वचः श्रुत्वा पाणीन् पाणिभिरस्पृशन्।
चत्वारस्ते चतसृणां वसिष्ठस्य मते स्थिताः॥ ३४॥ —वाल्मी० बाल० स० ७३

भावार्थ—राम ने शूर्पणखा से कहा—श्रीमतीजी! मैं विवाहित हूँ। यह सीता मेरी प्यारी पत्नी है॥ २॥ यह बलवान् श्रीमान् लक्ष्मण अविवाहित है॥ ३॥ क्या लक्ष्मण अविवाहित था? हर्गिज़ नहीं।

जनक की बात को सुनकर वसिष्ठ की सम्मति के अनुसार राम, लक्ष्मण, भरत, शत्रुघ्न चारों ने सीता, ऊर्मिला, माण्डवी, श्रुतकीर्ति चारों स्त्रियों का पाणिग्रहण किया। क्या यह ईश्वर के अवतार राम का सफेद झूठ नहीं?

(ख) राम का अधर्म—

युक्तं यत्प्राप्नुयाद्राज्यं सुग्रीवः स्वर्गते मयि।
अयुक्तं यदधर्मेण त्वयाहं निहतो रणे॥ ५२॥ —वाल्मी० किष्क० सर्ग १७

भावार्थ— बाली ने राम से कहा कि मेरे मरने के पीछे सुग्रीव राज्य को प्राप्त करे यह तो ठीक है, किन्तु आपने मुझे जो धोखे से मारा है यह ठीक नहीं है।

(ग) कृष्ण को वृजा से विषयासक्त देखकर राधा ने कहा—

कथं दुनोषि मां लोल रतिचौरातिलम्पट॥५९॥ —ब्रह्मवै० कृष्णजन्म० अ० ३

भावार्थ—हे चञ्चल! मुझे क्यों दुःख देता है? हे अतिलम्पट! चोरी से पर-स्त्रीभोग करनेवाले, मुझे दुःखी न कर!

(घ) गोपालसहस्रनाम में—**गोपालो कामिनीजारश्चोरजारशिखामणिः।**

भाषार्थ—कृष्ण स्त्रियों का यार तथा चोरों, जारों के सरदार हैं। कहिए, अब भी आपकी तृप्ति हुई या नहीं?

(६४) प्रश्न—स्वामी दयानन्दजी ने यजुर्वेद अध्यय ३७, मं० ९ '**अश्वस्य त्वा वृष्णः शक्ना धूपयामि देवयजने पृथिव्याः**' इसका अर्थ किया है कि 'पृथिवी के बीच यज्ञस्थल में वेगवान् घोड़े की लेंडी (लीद) से तुझको तपाता हूँ।' जो ईश्वर घोड़े के लीद बीन लावे और फिर उसको सुलगाकर विद्वानों को उस आग से तपा दे, वह कभी निराकार हो सकता है?

—पृ० ७, पं० १

उत्तर—इस स्थान में न तो कहीं यह लिखा है कि ईश्वर लीद बीनकर लावे और न ही यह वर्णन है कि ईश्वर आग को सुलगावे, अपितु यहाँ पर वैद्यक का प्रकरण है। 'घोड़े की लीद से तुझको तपाता हूँ' का अर्थ यह है कि मैं तुझे घोड़े की लीद से तपाने की आज्ञा देता हूँ। बहुत-से ऐसे रोग हैं जिनमें धूनी देने से और सेंकने से आराम आता है। यदि चोट लगी हो तो घोड़े की लीद से सेंकना अति लाभदायक है। उसी की ईश्वर ने आज्ञा दी है। इस आज्ञा देने से ईश्वर साकार कैसे हो गया और बीच में से अवतार कहाँ से टपक पड़ा? यहाँ वैद्यक का प्रकरण जानने के लिए मन्त्र के अर्थ के नीचे स्वामीजी का लिखा हुआ भावार्थ पढ़ने की कृपा करें।

भावार्थ—जो मनुष्य रोगादि क्लेश की निवृत्ति के लिए अग्नि आदि पदार्थों का सम्प्रयोग करते हैं, वे सुखी होते हैं॥९॥

श्रीमान्जी! इस मन्त्र में तो ईश्वर ने रोगी मनुष्यों को घोड़े की लीद से सेंकने की आज्ञा ही दी है किन्तु आपने तो ईश्वर को ही घोड़े की लेंडी से तपा मारा। देखिए, आपने अपनी पुस्तक पृ० १९१, पं० १२ में यों लिखा है कि—'**अश्वस्य त्वा वृष्णः**, इस मन्त्र से घोड़े की लीद से महावीर को पकावे' तथा महीधर भी लिखते हैं कि '**हे महावीर पृथिव्याः देवयजने मखाय मखस्य शीर्ष्णे च वृष्णः सेक्तुरश्वस्य शक्ना शकृता पुरीषेण त्वा त्वां धूपयामि**' हे महावीर! यज्ञ-स्थल में मैं तुझे घोड़े के पाखाने से धूप देता हूँ। कहिए महाराज! इन महावीरजी से क्या ख़ता हो गई जो इनको भट्टी में झोंका जा रहा है, या महावीरजी इसी सुगन्धित पदार्थ की धूप को अधिक पसन्द करते हैं? क्यों न हो महाराज! आपके तो देवता ही दुनिया से विचित्र हैं। यदि महावीरजी पाखाने की धूनी से प्रसन्न होते हैं तो वराहजी उस पुरीष को समूल ही हड़प करने के लिए व्याकुल रहते हैं। प्रतीत होता है या तो महावीरजी को ज्वर हो जाता होगा अथवा वह पागल हो जाते होंगे, क्योंकि पुराणों ने ऐसे रोगों में ही पाखाने आदि का प्रयोग लिखा है। जैसे—

कूर्ममत्स्याश्वमहिषगोश्रृगालाश्च वानराः। विडालबर्हिकाकाश्च वराहोल्लूककुक्कुटाः॥१४॥
हंस एषां च विण्मूत्रं मांसं वा रोमशोणितम्। धूपं दद्याज्ज्वरार्तेभ्य उन्मत्तेभ्यश्च शान्तये॥१५॥

—गरुड़० आचारखण्ड अ० १९३

भावार्थ—कछुआ, मछली, घोड़ा, भैंसा, गौ, गीदड़, बन्दर, बिल्ला, मोर, काक, वराह, उल्लू, कुक्कुट, हंस—इन जानवरों के मल, मूत्र, मांस, बाल, खून से ज्वरपीड़ित तथा पागलों को शान्त करने के लिए धूप देवे॥ १४। १५॥

आपकी मौज बन गई, अब आपको महावीर के लिए ही नहीं अपितु दूसरे पौराणिकों के लिए भी औषधार्थ बाहर जाने की ज़रूरत न पड़ेगी। अब तो आपके मन्दिर औषधालय का काम देंगे, क्योंकि उपर्युक्त जानवरों में से कूर्म, मत्स्य, वराह आदि कई तो आपके पूज्य अवतार मन्दिरों में ही रहते हैं। हाँ, एक आपत्ति है कि वे मल-मूत्रत्याग नहीं करते। यदि आप इसके लिए यत्न करें तो सम्भव है सफल हो जावें। धन्य है महाराज! आपकी अवतारलीला धन्य है! यही आपके अवतार हैं जिनकी सिद्धि के लिए आप ऋषि दयानन्दजी के ग्रन्थों को कलंकित करने का व्यर्थ परिश्रम कर रहे हैं?

(६५) प्रश्न—स्वामी दयानन्दजी ने **'प्रजापतिश्चरति'** [यजुः० ३१। १९] इस मन्त्र का भाष्य करते हुए ईश्वर का प्रकट होना और उसके स्वरूप को ध्यानशील पुरुषों का देख लेना लिखा है। यहाँ पर स्पष्टरूप से स्वामी दयानन्दजी ने ईश्वर को साकार माना है, अतः ईश्वर का अवतार लेना स्पष्ट सिद्ध है। —पृ० ८, पं० १२

उत्तर—इस मन्त्र के अर्थों से न तो यह सिद्ध होता है कि ईश्वर साकार है और न ही ईश्वर का अवतार लेना। जब उसमें सारे ब्रह्माण्ड स्थित हैं तो पता लगा कि वह सर्वव्यापक है। जब सर्वव्यापक है तो साकार कैसे हो सकता है? क्योंकि साकार वस्तु व्यापक नहीं हो सकती, अपितु एकदेशी होती है और व्यापक का किसी एक गर्भ में आ जाना भी असम्भव है, अतः वेद ने कह दिया कि वह स्वयं अजन्मा होते हुए गर्भ, गर्भस्थ जीव तथा अन्तःकरण में व्यापक होने से विराजमान है। 'स्वरूप' का अर्थ शक्ल नहीं अपितु स्वरूप का अर्थ लक्षण है। परमात्मा सच्चिदानन्दस्वरूप है। यदि परमात्मा की शक्ल हो तो मूढ़-से-मूढ़ आदमी भी चक्षु आदि इन्द्रियों से देख वा जान सकता है। वह सूक्ष्म होने से बाह्य इन्द्रियों से नहीं जाना जा सकता; योगाभ्यास द्वारा ध्यान से ही जाना जा सकता है, अतः यह कहा कि उसके स्वरूप को ध्यानशील विद्वान् ही जान सकते हैं। वह परमात्मा निमित्तकारण होता हुआ उपादानकारण प्रकृति से अनेक प्रकार के कार्यरूप जगत् को बनाता है। यही उसका बहुत प्रकार से विशेष प्रकट अर्थात् प्रसिद्ध होना है, क्योंकि कर्त्ता की प्रसिद्धि उसके कामों से ही हुआ करती है। इस अर्थ से ईश्वर को साकार वा जन्मधारी सिद्ध करना स्वयं वेदमन्त्र के विरुद्ध होने से यह कल्पना मिथ्या ही है, (विशेष देखें नं० २६)। हाँ, पौराणिक अवतार अनेक प्रकार के रूप धारण करके अनेक प्रकार की विचित्र लीला करते रहे हैं, जैसे—

एकदा कृष्णसहितो नन्दो वृन्दावनं ययौ॥ १॥
चकार माययाऽकस्मान्मेघाच्छन्नं नभो मुने॥ ३॥
एतस्मिन्नन्तरे राधा जगाम कृष्णसन्निधिम्॥ ८॥
जग्राह बालकं राधा जहास मधुरं सुखात्॥ २८॥
कृत्वा वक्षसि तं कामाच्छ्लेशं श्लेषं चुचुम्ब च॥ ३८॥
एतस्मिन्नन्तरे राधा मायासद्रत्नमण्डपम्।
ददर्श रत्नकलशशतेन च समन्वितम्॥ ३९॥
सा देवी मण्डपं दृष्ट्वा जगामाभ्यान्तरं मुदा।
ददर्श तत्र ताम्बूलं कर्पूरादिसमन्वितम्॥ ४६॥
पुरुषं कमनीयं च किशोरं श्यामसुन्दरम्॥ ४८॥

शयानं पुष्पशय्यायां सस्मितं मनोहरम्॥ ४९ ॥
क्रोडं बालशून्यं च दृष्ट्वा तं नवयौवनम्।
सर्वस्मृतिस्वरूपा सा तथापि विस्मयं ययौ॥ ५४ ॥
तामुवाच हरिस्तत्र स्मेराननसरोरुहाम्॥ ५७ ॥
आगच्छ शयने साध्वि कुरु वक्षःस्थले हि माम्॥ ६३ ॥
तिष्ठत्यहं शयानस्त्वं कथाभिर्यत्क्षणं गतम्॥ ८२ ॥
वक्षःस्थले च शिरसि देहि ते चरणाम्बुजम्॥ ८३ ॥
एतस्मिन्नन्तरे ब्रह्माऽऽजगाम पुरतो हरेः॥ ९० ॥
तस्या हस्तं च श्रीकृष्णं ग्राहयामास तं विधिः॥ १२४ ॥
प्रणम्य राधां कृष्णं च जगाम स्वालयं मुदा॥ १३६ ॥
प्रणम्य श्रीहरिं भक्त्या जगाम शयनं हरेः॥ १३८ ॥
कृष्णश्चर्विततताम्बूलं राधकायै मुदा ददौ॥ १४३ ॥
राधा चर्विततताम्बूलं ययाचे मधूसूदनः॥ १४४ ॥
यः कामो ध्यायते नित्यं यस्यैकचरणाम्बुजम्।
बभूव तस्य स वशो राधासन्तोषकारणात्॥ १४६ ॥
करे धृत्वा च तां कृष्णः स्थापयामास वक्षसि।
चकार शिथिलं वस्त्रं चुम्बनं च चतुर्विधम्॥ १४८ ॥
बभूव रतियुद्धेन विच्छिन्ना क्षुद्रघण्टिका।
चुम्बनेनोष्ठरागश्च ह्याश्लेषेण च पत्रकम्॥ १४९ ॥
पुलकाङ्कितसर्वाङ्गी बभूव नवसंगमात्।
मूर्च्छामवाप सा राधा बुबुधे न दिवानिशम्॥ १५१ ॥
प्रत्यंगेनैव प्रत्यंगमंगेनाङ्गं समाश्लिषत्।
शृङ्गाराष्टविधं कृष्णश्चकार कामशास्त्रवित्॥ १५२ ॥
पुनस्तां च समाश्लिष्य सस्मितां वक्रलोचनाम्।
क्षतविक्षतसर्वांगीं नखदन्तैश्चकार ह॥ १५३ ॥
बभूव शब्दस्तत्रैव शृङ्गारस्मरोद्भवः॥ १५४ ॥
निर्जने कौतुकात् कृष्णः कामशास्त्रविशारदः॥ १५६ ॥
निवृत्ते कामयुद्धे च सस्मिता वक्रलोचना॥ १५९ ॥
बभूव शिशुरूपं च कैशोरं च विहाय च।
ददर्श बालरूपं तं रुदन्तं पीडितं क्षुधा॥ १६३ ॥
यशोदायै शिशुं दातुमुद्यता सेत्युवाच ह॥ १७३ ॥
यशोदा बालकं नीत्वा चुचुम्ब च स्तनं ददौ।
बहिर्निविष्टा सा राधा स्वगृहे गृहकर्मणि॥ १७७ ॥
नित्यं नक्तं रतिं तत्र चकार हरिणा सह॥ १७८ ॥

—ब्रह्मवै० कृष्णजन्म० अ० १५

भावार्थ—एक दिन कृष्णसमेत नन्दजी वृन्दावन में गये॥ १ ॥ कृष्ण ने माया से आकाश को

बादलों से युक्त बना दिया॥ ३॥ इतने में राधा कृष्ण के पास गई॥ बालक को राधा ने ले-लिया। सुख से मधुर हँसने लगी॥ २८॥ काम से उसे बग़ल में लेकर छती से लगाकर चूम लिया॥ ३८॥ इतने में राधा ने सैकड़ों रत्नों से जड़े कलशों से परिपूर्ण माया से बना सुन्दर मण्डप देखा॥ ३९॥ वह देवी मण्डप को देखकर प्रसन्नता से अन्दर चली गई। वहाँ पर उसने कपूरवाला पान॥ ४६॥ और कामना के योग्य जवान और श्याम-सुन्दर॥ ४८॥ हँसमुख पुरुष को पुष्पशय्या पर सोते देखा॥ ४९॥ अपनी गोदी को बालक से खाली और उस नौजवान को देखकर सब-कुछ जानते हुए भी वह हैरान हो गई॥ ५४॥ उस कमलमुखवाली को कृष्णजी कहने लगे॥ ५७॥ हे प्यारी! चारपाई पर आ जा, मुझे बग़ल में ले ले॥ ६३॥ मैं बेठी हूँ, आप लेटे हैं, इसी प्रकार समय जा रहा है॥ ८२॥ मेरी बग़ल और शिर में चरणकमल अर्पण करो॥ ८३॥ इतने में ब्रह्मा कृष्ण के सामने आया॥ ९०॥ ब्रह्मा ने राधा का हाथ कृष्ण के हाथ में पकड़ा दिया॥ १२४॥ ब्रह्मा राधा तथा कृष्ण को प्रणाम करके अपने घर गया॥ १३६॥ राधा कृष्ण को प्रणाम करके कृष्ण के पलङ्ग पर गई॥ १३८॥ कृष्ण ने चबाया हुआ पान राधा को दिया॥ १४३॥ राधा से चबाया पान कृष्ण ने माँगा॥ १४४॥ काम जिसके चरणों को स्मरण करता था; राधा के सन्तोषार्थ वह कृष्ण उसी काम के वश में हो गये॥ १४६॥ कृष्ण ने हाथ से पकड़कर राधा को बग़ल में ले-लिया। उसके कपड़े ढीले कर दिये और चतुर्विध चुम्बन किया॥ १४८॥ रतियुद्ध में एक घण्टा हो गया, चूमने से होंठों का रंग तथा लिपटने से पत्रावली नष्ट हो गई॥ १४९॥ नये समागम से राधा रोमांचित हो गई। बस, राधा मूर्च्छित हो गई और दिन-रात होश में न आई॥ १५१॥ अंग-से-अंग तथा प्रत्यंग-से-प्रत्यंग लिपट गया। कामशास्त्र के जाननेवाले कृष्ण ने आठ प्रकार से भोग किया॥ १५२॥ फिर उस राधा से लिपटकर उस मुस्कराती हुई टेढ़ी नज़रवाली को, नाखुनों और दाँतों से जख़्मी कर दिया॥ १५३॥ कामभोग-युद्ध से बड़ा शब्द हुआ॥ १५४॥ कामशास्त्र में चतुर कृष्ण ने एकान्त में यूँ भोग किया॥ १५६॥ कामयुद्ध की समाप्ति पर वह तिरछी नज़रवाली राधा मुस्कराने लगी॥ १५९॥ वह कृष्णजी युवावस्था को छोड़कर फिर बालकरूप हो गये। राधा ने कृष्ण को बालकरूप में भूख से पीड़ित रोते हुए देखा॥ १६३॥ वह राधा यशोदा को बालक देकर बातचीत करने लगी॥ १७३॥ यशोदा ने बालक को लेकर चूमा और स्तन दिया। राधा बाहर चली गई, अपने घर अपना काम करने लगी॥ १७७॥ वह राधा रात को हमेशा कृष्ण से भोग करती रही॥ १७८॥

अब वह राधा थी कौन, यह अगले तीन श्लोकों से पता लगेगा—

आविर्बभूव कन्यैका कृष्णस्य वामपार्श्वतः॥ २५॥
तेन राधा समाख्याता पुराविद्भिर्द्विजोत्तम॥ २६॥

—ब्रह्मवै० ब्रह्म० अ० ५

वृषभानोश्च वैश्यस्य सा च कन्या बभूव ह॥ ३५॥
सार्धं रायाणवैश्येन तत्सम्बन्धं चकार स॥ ३७॥
कृष्णमातुर्यशोदाया रायाणस्तत्सहोदरः।
गोलोके गोपकृष्णांशः सम्बन्धात्कृष्णमातुलः॥ ४१॥

—ब्रह्मवै० प्रकृति अ० ४९

भाषार्थ—कृष्ण के बायें पसवाड़े से एक कन्या पैदा हुई॥ २५॥ उसका नाम विद्वान् द्विजों ने राधा रक्खा॥ २६॥ वह राधा वृषभानु वैश्य की कन्या थी॥ ३६॥ उसने उसका सम्बन्ध रायाण वैश्य से कर दिया॥ ३८॥ कृष्ण की माता जो यशोदा थी, रायाण उसका भाई था। वह रायाण गोलोक में तो कृष्ण का अंश था, किन्तु सम्बन्ध से कृष्ण का मामा लगता था॥ ४१॥

कहिए महाराज! जिस राधा से विवाह करके कृष्ण ने कामक्रीड़ा की, वह सम्बन्ध से कृष्ण की पुत्री, पुत्र-वधू, तथा मामी लगती थी। अब तो आप **'बहुधा विजायते'** तथा **'रूपंरूपं प्रतिरूपो बभूव'**—इन दोनों मन्त्रों को अवतारवाद में पूर्णरूप से संगत कर सकेंगे। कुछ शर्म तो नहीं आती! इन्हीं अवतारों की सिद्धि में आत्मघाती बनकर ऋषि दयानन्दजी के अभिप्राय से विरुद्ध उनके ग्रन्थों से अवतारवाद सिद्ध करने की धुन में हैं। एक ओर कृष्ण को ईश्वर का अवतार बतलाते हैं, दूसरी ओर पुराणों में उनपर सैकड़ों कलंक लगाये हैं। वास्तव में कृष्णजी क्या थे यह ऋषि दयानन्दजी के शब्दों में देखो। ऋषि कहते हैं कि—

देखो! श्रीकृष्णजी का इतिहास महाभारत में अत्युत्तम है। उसका गुण-कर्म-स्वभाव और चरित्र आप्तपुरुषों के सदृश है, जिसमें कोई अधर्म का आचरण, श्रीकृष्णजी ने जन्म से मरणपर्यन्त बुरा काम कुछ भी किया हो ऐसा नहीं लिखा और इस भागवतवाले ने अनुचित मनमाने दोष लगाये हैं। दूध, दही, मक्खन आदि की चोरी और कुब्जा दासी से समागम, पर-स्त्रियों से रासमण्डल, क्रीड़ा आदि मिथ्या दोष श्रीकृष्णजी में लगाये हैं। इसको पढ़-पढ़ा, सुन-सुनाके अन्य मत वाले श्रीकृष्णजी की बहुत-सी निन्दा करते हैं। जो यह भागवत न होता तो श्रीकृष्णजी के सदृश महात्माओं की झूठी निन्दा क्योंकर होती? —सत्यार्थ० समु० ११

जब संवत् १९१४ के वर्ष में तोपों के मारे मन्दिर-मूर्त्तियाँ अंग्रेजों ने उड़ा दी थीं तब मूर्त्ति कहाँ गई थी? प्रत्युत बाघेर लोगों ने जितनी वीरता की और लड़े, शत्रुओं को मारा, परन्तु मूर्त्ति एक मक्खी की टाँग भी न तोड़ सकी। जो श्रीकृष्ण के सदृश कोई होता तो इनके धुर्रे उड़ा देता और ये भागते फिरते। —सत्यार्थ० समु० ११ प्रकरण, मूर्त्तिपूजा

यत्र योगेश्वरः कृष्णो यत्र पार्थो धनुर्धरः।
तत्र श्रीर्विजयो भूतिर्ध्रुवा नीतिर्मतिर्मम्॥ ७८॥ —गीता अ० १८

भावार्थ—जहाँ योगिराज कृष्ण हों तथा जहाँ धनुषधारी अर्जुन हों वहीं श्री, वहीं विजय, वहीं सम्पत्ति तथा वहीं दृढ़ नीति है, यह मेरी [सञ्जय का] राय है।

अवतार, परिशिष्ट

(६५क) प्रश्न—'प्र तद्विष्णुः' इत्यादि [ऋ० १।१५४।२] मन्त्र में नरसिंहावतार का वर्णन है।

उत्तर—इस मन्त्र में नरसिंहावतार का नाममात्र भी नहीं है, अपितु सिंह के दृष्टान्त से परमात्मा का उग्र पराक्रम दिखाया है। मन्त्र तथा उसका वास्तविक अर्थ इस प्रकार है—

प्र तद्विष्णुः स्तवते वीर्येण मृगो न भीमः कुचरो गिरिष्ठाः।
यस्योरुषु त्रिषु विक्रमणेष्वधिक्षियन्ति भुवनानि विश्वा॥

—ऋ० १।१५४।२

भावार्थ—जिस सर्वव्यापक विष्णु के रचे जन्म, स्थान, नाम—इन तीन विविध सृष्टिकर्मों के आधार में समस्त लोक-लोकान्तर निवास करते हैं, वह सर्वव्यापक परमेश्वर पराक्रम से सब लोकों को प्रस्तुत करता है, जैसे पर्वत-कन्दराओं में स्थित भयानक मृग अर्थात् सिंह॥ २॥

(६५ख) प्रश्न—'भद्रो भद्रया' इत्यादि [साम० उत्तर० ७।२।५।३] में रामावतार का वर्णन स्पष्ट आता है।

उत्तर—इस मन्त्र का देवता अर्थात् प्रतिपाद्य विषय 'अग्नि' है और यहाँ राम का अर्थ 'काला अँधियारा' है। देखिए, इस मन्त्र का अर्थ सायणाचार्य्य ने इस प्रकार किया है—

भद्रो भद्रया सचमान आगात् स्वसारं जारो अभ्येति पश्चात्।
सुप्रकेतैर्द्युभिरग्निर्वितिष्ठन् रुशद्भिर्वर्णैरभिराममस्थात्॥

—साम० उत्तर० ७।२।५।३

भावार्थ—भजनीय भजनीया के सहित आता है। शत्रुओं का नाशक वह अग्नि स्वयं चलनेवाली उषा के सामने आता है तथा भले प्रकार प्रज्ञान=तेजों के साथ सब ओर वर्त्तमान वह अग्नि श्वेतवर्ण, रोकनेवाले अपने तेजों से '**रामम्**' काले, रात्रि के अँधियारे को सायं होमकाल में तिरस्कार करके स्थित होता है॥३॥

(६५ग) प्रश्न—'**कृष्णं त एम**' इत्यादि [अथर्व० ४।७।९] इस मन्त्र में कृष्णावतार का वर्णन है।

उत्तर—इस मन्त्र का देवता भी अग्नि ही है, यहाँ कृष्ण का अर्थ काला है। इस मन्त्र का सायणभाष्य इस प्रकार है—

कृष्णं त एम रुशतः पुरो भाश्चरिष्ण्वर्चिर्वपुषामिदेकम्।
यदप्रवीता दधते ह गर्भं सद्यश्चिज्जातो भवसीदु दूतः॥ —ऋ० ४।७।९

भाषार्थ—हे अग्ने! तुझ प्रकाशमान के गमन का मार्ग कृष्णवर्ण (काला) है। तेरा प्रकाश आगे रहता है। चलनेवाला तेरा तेज ही सम्पूर्ण रूपवान् तेजस्वियों में मुख्य है। जिस तेरे समीप न गये हुए यजमान लोग ज्यों ही तेरे गर्भरूप अरणी को धरते हैं त्यों ही तू उत्पन्न होते ही दूत अर्थात् यजमान का दूत बन जाता है॥९॥

इन मन्त्रों में ईश्वर के अवतार का नाम भी नहीं है।

मूर्त्तिपूजा

(६६) प्रश्न—वेद में ब्रह्म, सूर्य, शक्ति, गणपति, शंकर, विष्णु तथा देवताओं का पूजन स्पष्ट रूप से लिखा है। —पृ० १७९, पं० ३

उत्तर—वेदों में ब्रह्म, सूर्य, शक्ति, गणपति, शंकर, विष्णु इत्यादि ये सब परमात्मा के ही नाम हैं, अतः वेदों में अनेक नामधारी परमात्मा की ही पूजा का वर्णन है। हाँ, यदि उपर्युक्त नामों से आपका अभिप्राय किन्हीं विशेष पौराणिक देवताओं से हो तो यह बात आपकी ग़लत है, क्योंकि वेदों में एक अद्वितीय परमात्मा की ही उपासना का वर्णन है और चारों वेदों में तो 'मूर्त्तिपूजा' शब्द भी मौजूद नहीं है।

(६७) प्रश्न—'**अर्चत प्रार्चत**' [ऋ० ६।५।५८।८] इस मन्त्र में परमात्मा इन्द्र की पूजा की आज्ञा है। —पृ० १७९, पं० ५

उत्तर—आपके अर्थ के अनुसार भी इस मन्त्र में इन्द्र नामवाले परमात्मा की ही पूजा लिखी है और आपके अर्थ में इन्द्र के अर्थ कोष्ठ में देकर (ईश्वर) किये गये हैं। हमारी इन अर्थों से कोई हानि नहीं है, क्योंकि इस मन्त्र में न तो मूर्त्तिपूजा शब्द विद्यमान है और न ही यह आज्ञा वर्त्तमान है कि परमात्मा की 'धातु, लकड़ी वा पत्थर की इतनी लम्बी-चौड़ी मूर्त्ति बनाकर परमात्मा के स्थान में उसकी पूजा करो।' फिर न जाने आपने यह मन्त्र मूर्त्तिपूजा की सिद्ध में क्यों पेश किया है? इस मन्त्र का शुद्धपाठ, ठीक ठिकाना तथा सत्य अर्थ इस प्रकार है—

अर्चत प्रार्चत प्रियमेधासो अर्चत।
अर्चन्तु पुत्रका उत पुरं न धृष्ण्वर्चत॥८॥ —ऋग्वेद मण्डल, ८, सूक्त ६९

भाषार्थ—बुद्धिमान् मनुष्य आपस में एक-दूसरे की पूजा अर्थात् सत्कार करें। अतिथि, साधु, महात्मा लोगों का सत्कार करें। अन्न, बल तथा ज्ञान से हमारी रक्षा करनेवाले विद्वानों का सत्कार

विशेषरूप से करें। सब पुत्र लोग धैर्यशील होकर माता, पिता, आचार्य का सत्कार करें। पति-पत्नी भी आपस में एक-दूसरे की पूजा अर्थात् सत्कार करें।

इस मन्त्र में इन्द्रियों के स्वामी जीवात्माओं को परस्पर एक-दूसरे की पूजा अर्थात् सत्कार करने की आज्ञा परमेश्वर ने दी है। इसमें मूर्त्तिपूजा का नाम भी नहीं है।

(६८) प्रश्न—वेद ने ब्रह्म और संसार का अभेद माना है। इस कारण वेद ने संसारी पदार्थों को पूजना और इस पूजन से ब्रह्म की प्रसन्नता होना मान वेद के अनेक स्थलों में संसारी पदार्थों का पूजन लिखा है। —पृ० १७९, पं० १६

उत्तर—वेद ने तो **'द्वा सुपर्णा'** इत्यादि अनेक मन्त्रों से ईश्वर, जीव तथा प्रकृति को अनादि प्रतिपादित किया है, अतः इस संसार का उपादानकारण प्रकृति, निमित्तकारण ईश्वर तथा साधारणकारण जीव है। ये तीनों पदार्थ स्वरूप से एक-दूसरे से भिन्न तथा व्याप्य-व्यापकभाव से अभिन्न हैं। यही वेद का सिद्धान्त है और वेद ने ईश्वर के स्थान में प्रकृति तथा प्राकृत पदार्थों की पूजा को भी **'अन्धतमः प्रविशन्ति'** इत्यादि मन्त्रों द्वारा पाप वर्णन किया है, अतः वेद में कहीं भी परमात्मा के स्थान में किसी और वस्तु की पूजा करने का वर्णन नहीं है। आपने यह सम्पूर्ण प्रतिज्ञा मिथ्या ही की है। भला! यह तो बतलाइए कि आपके मत में यदि ब्रह्म तथा संसार का अभेद है तो फिर आप उपास्य-उपासक-भेद डालकर क्यों दुनिया को गुमराह कर रहे है? जब सारा संसार ही ब्रह्म है तो उपासना कौन किसकी करेगा? और जब संसार की सब वस्तु ब्रह्म हैं तो फिर विशेष शक्ल की मूर्त्तियाँ बना मन्दिरों में स्थापन कर उनकी पूजा का क्यों शोर मचाया जा रहा है? मुझे तो ऐसा प्रतीत होता है कि आप स्वयं ही अपने लेख से मूर्त्तिपूजा का खण्डन कर रहे हैं।

(६९) प्रश्न—**'नमस्ते अस्तु विद्युते'** [अथर्व० १।१३।१] इस मन्त्र में बिजली, गर्जना, पाषाण तथा उसकी चोट को प्रणाम करना लिखा है। —पृ० १७९, पं० १६

उत्तर—आपने यह समझ रक्खा है कि 'नमः' का अर्थ नमस्कार ही होता है, परन्तु ऐसा नहीं है, अपितु नमः के अर्थ वज्र (निरु० ३।११।२०), अन्न (निरु० ३।९।७), सेवन (निरु० ३।१३।५) भी आते हैं, अतः यहाँ पर नमः शब्द के अर्थ यथोयोग्य सेवन अर्थात् उपयोग में लाने के हैं। इस मन्त्र में न तो कहीं मूर्त्तिपूजा शब्द है और न ही किसी की मूर्त्ति बनाने, पूजने का वर्णन है, अपितु विद्युत् आदि पदार्थों के यथायोग्य उपयोग का वर्णन है। इस मन्त्र का ठीक पता तथा अर्थ यों है—

नमस्ते अस्तु विद्युते नमस्ते स्तनयित्नवे।
नमस्ते अस्त्वश्मने येना दूडाशे अस्यसि॥ —अथर्व० १।१३।१

भाषार्थ—उस प्रकाश करनेवाली बिजली का हम उपयोग करते हैं। उस शब्द करनेवाली बिजली का हम उपयोग करते हैं। जिस पत्थर से चोट लगाना सम्भव है उसका भी हम उपयोग करते हैं, अर्थात् उचित प्रयोग करते हैं।

कृपया बतलावें इससे मूर्त्तिपूजा कैसे सिद्ध होती है?

(७०) प्रश्न—**'यो देवेभ्य आतपति'** [यजुः० ३१।२०] इस मन्त्र में ब्रह्म के अवयवभूत सूर्य की प्रशंसा कर उसको प्रणाम करना बतलाया है। —पृ० १७९, पं० २१

उत्तर—आपने यहाँ पर फिर वही भूल की है कि 'नमः' के अर्थ प्रणाम कर दिये। यदि वेद में सर्वत्र नमः के अर्थ प्रणाम ही हैं तो ऊपर लिखे हुए वज्र, अन्न तथा परिचरण आदि अर्थ व्यर्थ हो जावेंगे। और क्या **'तस्कराणां पतये नमः'** [यजुः० १६।२१] तथा **'श्वनिभ्यो नमः'** [यजुः० १६।२७] इत्यादि में भी नमः का अर्थ प्रणाम करके डाकू और भंगियों को भी उपास्यदेव

मान लेंगे? इसलिए नमः का अर्थ सर्वत्र प्रणाम न लेना चाहिए। इस मन्त्र के ठीक अर्थ इस प्रकार हैं—

यो देवेभ्य आतपति यो देवानां पुरोहितः।
पूर्वो यो देवेभ्यो जातो नमो रुचाय ब्राह्मये॥ —यजुः० ३१।२०

भाषार्थ—हे मनुष्यो! जो सूर्यलोक उत्तम गुणोंवाली पृथिवी आदि के अर्थ अच्छे प्रकार तपता है, जो पृथिवी आदि लोकों के हितार्थ प्रथम से बीच में स्थित किया, जो पृथिवी आदि से प्रथम उत्पन्न हुआ, उस रुचि करानेवाले परमेश्वर के सन्तान के तुल्य सूर्य से अन्न उत्पन्न होता है।

भावार्थ—हे मनुष्यो! जिस जगदीश्वर ने सबके हित के लिए अन्न आदि की उत्पत्ति के निमित्त सूर्य को बनाया है, उसी परमेश्वर की उपासना करो॥ २०॥

इस मन्त्र से किसी सूरत में भी मूर्त्तिपूजा सिद्ध नहीं हो सकती। श्रीमान्‌जी! जिस सूर्यदेव की उपासना आप सिद्ध करना चाहते हैं, क्या यह वही तो नहीं हैं, जिनका भविष्यपुराण में इस प्रकार से वर्णन आता है—

इति श्रुत्वा वेदमयं वाक्यं चादितिसम्भवः।
विवस्वान् भ्रातृजां संज्ञां गृहीत्वा श्रेष्ठवानभूत्॥
—भविष्य० प्रति० स० पर्व ३।१८।२८

तत्र स्थिता प्रिया संज्ञा बडवारूपधारिणी ॥ ३७॥ —प्रमाण पूर्ववत्
अश्वरूपेण मार्तण्डस्तां मुखेन समासदत्॥ ५५॥
सा तं वैवस्वतं शुक्रं नासाभ्यां समधारयत्॥ ५६॥
—भविष्य० ब्राह्मपर्व अध्याय ७९

भावार्थ—इस वेदानुकूल वाणी को सुनकर अदिति के पुत्र सूर्य ने भी भतीजी से विवाह करके श्रेष्ठता प्राप्त की॥ २८॥ वहाँ पर वह प्यारी संज्ञा घोड़ी का रूप धारण करके खड़ी थी॥ ३७॥ सूर्य भी घोड़े का रूप धारण करके उसको मुख से मैथुनार्थ प्राप्त हुए॥ ५५॥ उस संज्ञा ने उस सूर्य के वीर्य को नासिका के द्वारों से धारण किया॥ ५६॥

मुझे इस बात का भय है कि कहीं उपासकों में उपास्य के गुण प्रवेश करने से पौराणिकों को भी यह बीमारी न चिमट जावे।

(७१) प्रश्न—'हिरणमयेन पात्रेण' [यजुः० ४०।१७] इस मन्त्र में सूर्यमण्डल में व्याप्य अधिष्ठातृदेव को ईश्वर कहा गया है। —पृ० १८०, पं० ५

उत्तर—आपको अपना पक्ष सिद्ध करते हुए ईमानदारी से काम लेना चाहिए। देखिए, आपने इस मन्त्र के अर्थों को स्पष्ट करनेवाले वाक्य को मन्त्र में से सर्वथा ही लुप्त कर दिया है। यदि इसी प्रकार से मूर्त्तिपूजा सिद्ध होनी है तो यह बेल मढ़े चढ़ती नज़र नहीं आती। देखिए, इस मन्त्र का पूरा पाठ तथा सत्य अर्थ इस प्रकार है—

हिरणमयेन पात्रेण सत्यस्यापिहितं मुखम्।
योऽ सावादित्ये पुरुष सोऽ सावहम्॥ ओ३म् खं ब्रह्म॥ —यजुः० ४०।१७

भाषार्थ—हे मनुष्यो! जिस ज्योतिःस्वरूप, रक्षक मुझसे, अविनाशी यथार्थ कारण के आच्छादित मुख के तुल्य उत्तम अङ्ग का प्रकाश किया जाता, जो वह प्राण वा सूर्यमण्डल में पूर्ण परमात्मा है, वह परोक्षरूप में आकाश के तुल्य व्यापक, सबसे गुण-कर्म और स्वरूप करके अधिक हूँ। सबका रक्षक जो मैं उसका 'ओ३म्' ऐसा नाम जानो॥ १७॥

बतलाइए, इसमें सूर्य का तथा उसके अधिष्ठातृदेव का कहाँ वर्णन है?

(७२) प्रश्न—'तत्सवितुर्वरेण्यम्' (यजुः० ३। ३५) इस गायत्री मन्त्र में सूर्य से यह प्रार्थना की गई है कि वह हमारी बुद्धियों को शुभ काम में लगावे। —पृ० १८०, पं० १०

उत्तर—सूर्य अग्नितत्त्व का पुञ्ज है और अग्नि जड़ है। वह जड़ अग्नि हमारी बुद्धियों को शुभ काम में लगाने की सामर्थ्य नहीं रखता। न ही जड़ पदार्थ से प्रार्थना करना बुद्धिमत्ता कही जा सकती है और न ही इस मन्त्र में सूर्य का वर्णन है। यहाँ सविता शब्द से जगत् के उत्पादक परमात्मा से ही प्रार्थना करने का वर्णन है; जैसाकि—

तत्सवितुर्वरेण्यं भर्गो देवस्य धीमहि।
धियो यो नः प्रचोदयात्॥ —यजुः० ३। ३५

भाषार्थ—हम लोग सब जगत् के उत्पन्न करने वा प्रकाशमय शुद्ध वा सुख देनेवाले परमेश्वर का जो अतिश्रेष्ठ, पापरूप दुःखों के मूल को नष्ट करनेवाला स्वरूप है उसको धारण करें और जो अन्तर्यामी, सब सुखों का देनेवाला है वह अपनी करुणा करके हम लोगों की बुद्धियों को उत्तम-उत्तम गुण-कर्म-स्वभावों में प्रेरणा करें॥ ३५॥

आशा है इस पदार्थ को जानकर आपके दिमाग़ से जड़ पदार्थों को उपास्य मानने का उन्माद अवश्य दूर हो जावेगा।

(७३) प्रश्न—'उद्यते नम उदायते नमः' (अथर्व० १७। १। २२) तथा **'अस्तंयते नमः'** (२३) इन दो मन्त्रों से उदय होते और अस्त होते सूर्य को दोनों समय प्रणाम करना लिखा है। —पृ० १८०, पं० १५

उत्तर—इन दोनों मन्त्रों में भी न सूर्य को प्रणाम किया गया है और न ही सूर्य की उपासना का वर्णन है। यहाँ भी परमेश्वर को ही नमस्कार करने तथा उपास्यदेव मानने का वर्णन है। इन मन्त्रों के ठीक-ठीक अर्थ इस प्रकार हैं—

उद्यते नम उदायते नम उदिताय नमः।
विराजे नमः स्वराजे नमः सम्राजे नमः॥ —अथर्व० १७। १। २२

भावार्थ—प्रसिद्ध होते हुए को नमस्कार है, अति उत्तम होनेवाले को नमस्कार है, प्रसिद्ध हो चुके हुए को नमस्कार है। विशेष राजा को नमस्कार है, स्वयम्भू राजा के लिए नमस्कार है, राजराजेश्वर को नमस्कार है।

अस्तंयते नमोऽस्तमेष्यते नमोऽस्तमिताय नमः।
विराजे नमः स्वराजे नमः सम्राजे नमः॥ —अथर्व० कां० १७, सू० १, मं० २३

भावार्थ—अप्रसिद्ध होते हुए को नमस्कार है, अप्रसिद्ध होना चाहनेवाले को नमस्कार है। अप्रसिद्ध हो चुके हुए को नमस्कार है। विशेष राजा को नमस्कार है, स्वयं राजा को नमस्कार है, राजाओं के राजा को नमस्कार है॥ २३॥

इन मन्त्रों में जो 'विराज', 'स्वराज', 'सम्राज' शब्द हैं ये परमात्मा के लिए ही प्रयुक्त हो सकते हैं; सूर्य के लिए नहीं। निमित्तकारण परमात्मा का उपादानकारण प्रकृति से कार्यरूप जगत् बनाना ही प्रसिद्ध होना तथा प्रलय कर देना ही अप्रसिद्ध होना है। यह पूर्व भी लिख आये हैं।

(७४) प्रश्न—'अहं रुद्रेभिर्वसुभिश्चरामि' [ऋ० १०। १२५]। इस सूक्त के ६ मन्त्रों में ईश्वरशक्ति दुर्गा का वर्णन है। उसके महत्त्व को वेद ने जैसा बतलाया है, उसको ऊपर देख लें। ईश्वर और शक्ति में वेद अभेद मानता है और वह बलवती पूज्या है। अतएव इन मन्त्रों के अभिप्राय तथा अन्य बहुत-से मन्त्रों के भाव को लेकर वैदिक लोग शक्ति की पूजा करते हैं। —पृ० १८१, पं० ६

उत्तर—इस सूक्त का देवता अर्थात् प्रतिपाद्य विषय 'वागाम्भृणी' अर्थात् वेदवाणी को धारण करनेवाला परमात्मा है। यदि ईश्वरशक्ति से आपका अभिप्राय ईश्वर की वेदवाणी को धारण करनेवाली शक्ति से है तो हमें इसमें कुछ वक्तव्य नहीं है। गुण-गुणी में समवाय-सम्बन्ध होने से उस शक्ति का ईश्वर से अभेद होना स्वाभाविक ही है, परन्तु ईश्वरशक्ति से आपका अभिप्राय पौराणिक दुर्गा से है तो आपकी कल्पना सर्वथा मिथ्या है, क्योंकि पौराणिक दुर्गा ईश्वर की शक्ति का नाम नहीं अपितु वह एक अद्भुत व्यक्ति है। वेदों में उसका क़तई वर्णन नहीं है और न ही वैदिक लोगों के लिए वह पूज्या है, अपितु वह पौराणिक लोगों की आश्चर्यजनक कल्पना है। वह पौराणिक दुर्गा कैसी है, उसका संक्षिप्त स्वरूप निम्न प्रकार है—

निशुम्भशुम्भसंहत्री मधुमांसासवप्रिया॥ ९०॥ —शिव० वायु० उत्तर० अ० ३१

उग्रदंष्ट्रा चोग्रदण्डा कोटवी च पपौ मधु॥ ३॥
जगर्ज साट्टहासं च दानवा भयमाययुः॥ १२॥
दानवानां बहूनां च मांसं च रुधिरं तथा॥ ३६॥
भुक्त्वा पीत्वा भद्रकाली शंकरान्तिकमाययौ॥ ३७॥

—शिव० रुद्र० युध० अ० ३८

जयति नरमुण्डमुण्डितपिशितसुराहारकृच्चण्डी॥ १२॥
जयति दिगम्बरभूषा सिद्धवटेशा महालक्ष्मीः॥ १३॥
दिग्वसना विकृतमुखा विकरालदेहा रौद्रभावस्था॥ १५॥
जयति भुजगेन्द्रमणिशोभितकर्णा महातुण्डा॥ १७॥
सिंहारूढा विनिर्गत्य दुर्गाभिः सहिता पुरा॥ २४॥
कुमारी विंशतिभुजा घनविद्युल्लतोपमा॥ २५॥

—भविष्य० उत्तर० अ० ६१

भावार्थ—तेज़ दाँतोंवाली, कठोर डण्डेवाली, शराब पीनेवाली, गर्जनेवाली, अट्टहास करनेवाली, मांस भोजनवाली, खून पीनेवाली, मनुष्य-मुण्ड-माला पहननेवाली, मांस-शराब आहारवाली, चण्डी, नंगी, कुरूपा, विकराल देहवाली, डरावनी, कानों में सर्पमणि, लम्बी चोंचवाली, सिंह-सवारी, कुमारी, बीस भुजावाली, बिजली-सी चमकवाली, इत्यादि, इत्यादि।

कहिए महाराज! क्या इस पौराणिक दुर्गा का ही इस सूक्त में वर्णन आप बतला रहे हैं? यदि ऐसा ही है तो क्या उपर्युक्त विशेषण इस सूक्त में मौजूद हैं? यदि नहीं तो क्यों दुनिया की आँखों में धूल झोंक रहे हैं? सीधे होकर मानिए कि इस सूक्त में पौराणिक दुर्गा का वर्णन नहीं है, अपितु वेदवाणीधारक परमात्मा का वर्णन है। इन वेदमन्त्रों का सत्य अर्थ इस प्रकार है—

अहं रुद्रेभिर्वसुभिश्चराम्यहमादित्यैरुत विश्वदेवैः।
अहं मित्रावरुणोभा बिभर्म्यहमिन्द्राग्नी अहमश्विनोभा॥ १॥

भावार्थ—मैं परमेश्वर ज्ञानदाताओं वा दुःखनाशकों, निवास करानेवाले पुरुषों के साथ और मैं ही सर्व दिव्य गुणवाले प्रकाशमान अथवा अदीन प्रकृति से उत्पन्न हुए सूर्य आदि लोकों के साथ वर्त्तमान हूँ, मैं दोनों दिन और रात को, मैं पवन और अग्नि को, मैं ही दोनों सूर्य और पृथिवी को धारण करता हूँ॥ १॥

अहं सोममाहनसं बिभर्म्यहं त्वष्टारमुत पूषणं भगम्।
अहं दधामि द्रविणं हविष्मते सुप्राव्ये यजमानाय सुन्वते॥ २॥

भावार्थ—मैं प्राप्ति करने योग्य ऐश्वर्य को, मैं रसों के छिन्न-भिन्न करनेहारे सूर्य को, पोषण

करनेहारी पृथिवी को और सेवनीय चन्द्रमा को धारण करता हूँ। मैं भक्ति रखनेवाले, विद्यारस का निचोड़ करनेहारे, यज्ञ का सेवन करनेहारे, पुरुष को सुन्दर-सुन्दर रक्षायोग्य अनेक धन देता हूँ॥ २॥

अहं राष्ट्री संगमनी वसूनां चिकितुषी प्रथमा यज्ञियानाम्।
तां मा देवा व्यदधुः पुरुत्रा भूरिस्थात्रां भूर्यावेशयन्तीम्॥ ३॥

भावार्थ—मैं धनों की पहुँचानेवाली और संगतियोग्य पूजनीय विषयों को जाननेवाली, नियमन करनेवाली पहली शक्ति हूँ। विद्वानों ने बहुत प्रकारों से अनेक पदार्थों में ठहरी हुई उस मुझको अनेक विधि से अपने आत्मा में अनुभव करके विविध प्रकार से धारण किया है॥ ३॥

मया सो अन्नमत्ति यो विपश्यति यः प्राणिति य ईं शृणोत्युक्तम्।
अमन्तवो मां त उप क्षियन्ति श्रुधि श्रुत श्रद्धिवं ते वदामि॥ ४॥

भाषार्थ—मेरे द्वारा ही वह अन्न खाता है। जो कोई विशेष करके देखता है, जो श्वास लेता है और जो यह वचन सुनता है, मुझे न जाननेवाले वे पौरुषहीन होकर नष्ट हो जाते हैं। हे सुनने में समर्थ जीव! तू सुन, तुझे आदरयोग्य सत्य बात बताता हूँ॥ ४॥

अहमेव स्वयमिदं वदामि जुष्टं देवेभिरुत मानुषेभिः।
यं कामये तंतमुग्रं कृणोमि तं ब्रह्माणं तमृषिं तं सुमेधाम्॥ ५॥

भावार्थ—मैं स्वयं ही देवों=विद्वानों और मननशील मनुष्यों का प्रिय यह वचन कहता हूँ, अर्थात् जिस-जिसको मैं चाहता हूँ उस-उसको ही कर्मानुसार तेजस्वी, उसको वृद्धिशील ब्रह्मा, उसी को सन्मार्ग-दर्शक ऋषि, उसी को उत्तम बुद्धिवाला बनाता हूँ॥ ५॥

अहं रुद्राय धनुरा तनोमि ब्रह्मद्विषे शरवे हन्तवा उ।
अहं जनाय समदं कृणोम्यहं द्यावापृथिवी आ विवेश॥ ६॥

भाषार्थ—मैं दुःखनाशक शूर के लिए ब्राह्मणों के द्वेषी हिंसक के मारने को ही सब ओर से धनुष तानता हूँ। मैं भक्तजन के लिए आनन्दयुक्त जगत् रचता हूँ। मैंने सूर्य और पृथिवीलोक में सब ओर से प्रवेश किया हुआ है॥ ६॥

अब धर्म और न्याय से बताइए कि इस सूक्त में वाणी के धारक परमात्मा का वर्णन है या आपकी मिथ्या कल्पित पौराणिक दुर्गा का।

(७५) प्रश्न—'गणानां त्वा गणपतिम्।' [यजुः० २३। १९] इस मन्त्र में गणपति का आवाहन है। आह्वान पूजा के समय ही होता है। अतएव आह्वान से गणपति का पूजन सिद्ध है।

—पृ० १८२, पं० २७

उत्तर—आपके भाष्यकार तो इस मन्त्र का देवता अश्व मानते हैं तथा इस मन्त्र का विनियोग स्त्री को घोड़े के समीप सोने में लगाते हैं। जैसाकि महीधर लिखते हैं—

महिषी अश्वसमीपे शेते। अश्वदेवत्यम्। हे अश्व गर्भधं गर्भं दधाति गर्भधं गर्भधारकं रेतः अहम् आ अजानि आकृष्य क्षिपामि। तं च गर्भधं रेतः आ अजासि आकृष्य क्षिपसि॥ १९॥

भाषार्थ—यजमान की स्त्री घोड़े के पास सोती है। यह मन्त्र अश्वदेवतावाला है। हे अश्व! तेरे गर्भ को धारण करनेवाले वीर्य को मैं खैंचकर डालती हूँ और आप भी खैंचकर डालते हैं।

किन्तु आपने भी यह अनुभव करके कि महीधरभाष्य वेद को कलंकित करनेवाला है, स्वामी दयानन्दजी का अनुकरण करते हुए इस मन्त्र का देवता गणति ही मान लिया है, परन्तु यहाँ पर गणपति शब्द से गणों के पालक परमात्मा का वर्णन है; पौराणिक गणपति का वर्णन नहीं है।

देखिए, पुराणों में गणेशजी का स्वरूप इस प्रकार वर्णन किया है—

विचार्येति च सा देवी वपुषो मलसम्भवम्।
पुरुषं निर्ममौ सा तु सर्वलक्षणसंयुतम्॥ २०॥
हे तात शृणु मद्वाक्यं द्वारपालो भवाद्य मे॥ २५॥
विना मदाज्ञां मत्पुत्र नैवायान्मद् गृहान्तरम्॥ २६॥

—शिव० रुद्र० कुमार० अ० १३

एतस्मिन्नेव काले तु शिवो द्वारि समागतः॥ ३१॥
ताडितस्तेन यष्ट्या हि गणेशेन महेश्वरः॥ ३५॥ —वही अ० १३
क्रोधं कृत्वा समभ्येत्य मम श्मश्रूण्यवाकिरत्। —अ० १५ श्लो० ३१
अथ शक्तिसुतो वीरो वीरगत्या स्वयष्टितः।
प्रथमं पूजयामास विष्णुं सर्वसुखावहम्॥ ११॥
एतदन्तरमासाद्य शूलपाणिस्तथोत्तरे।
आगत्य च त्रिशूलेन तच्छिरो निरकृन्तत॥ ३४॥ —वही अ० १६
तावच्च गिरिजा देवी चुक्रोधाति मुनीश्वर॥ ४॥ —वही अ० १७
प्रथमं मिलितस्तत्र हस्ती चाप्येकदन्तकः॥ ४९॥
तच्छिरश्च तदानीत्वा तत्र तेऽयोजयन् ध्रुवम्॥ ५०॥ —अ० १७
धन्योऽसि कृतकृत्योऽसि पूर्वपूज्यो भवाधुना॥ ८॥

—शिव० रुद्र० कु० अ० १८

भाषार्थ—विचार करके पार्वती ने अपने शरीर से मैल उतारकर सब लक्षणों से युक्त पुरुष बनाया॥ २०॥ और कहा कि द्वारपाल बन जा॥ २५॥ मेरी आज्ञा के बिना कोई मेरे घर के अन्दर न आवे॥ २६॥ इतने में शिवजी द्वार पर आ गये॥ ३१॥ गणेश ने महादेव को लाठी से पीटा॥ ३५॥ क्रोध में आकर ब्रह्मा की भी दाढ़ी उखाड़ डाली॥ ३१॥ फिर प्रथम पार्वती के पुत्र गणेश ने डण्डे से विष्णु की पूजा की॥ ११॥ इतने में मौका पाकर शिव ने त्रिशूल से गणेश का सिर काट दिया॥ ३४॥ इसपर पार्वती को क्रोध आ गया॥ ४॥ पहले-पहल एक दाँतवाला हाथी मिला, तब उसका सिर काटकर गणेश के धड़ पर जोड़ दिया॥ ४९-५०॥ पार्वती ने धन्य कहकर पूर्वपूजा का विधान कर दिया॥ ५०॥

कहिए, आपके द्वारा प्रस्तुत मन्त्र में कहीं आदमी का धड़, हाथी का सूँडवाला शिर और चूहेकी सवारी करनेवाले गणेश का वर्णन है? यदि नहीं तो फिर केवल गणपति शब्द आ जाने से इस विचित्र आकृतिवाले पौराणिक गणेश की कल्पना इस मन्त्र से निकालना सर्वथा निर्मूल है। मन्त्र का ठीक-ठीक अर्थ इस प्रकार है—

गणानां त्वा गणपतिꣳ हवामहे प्रियाणां त्वा प्रियपतिꣳ हवामहे निधीनां त्वा निधिपतिꣳ हवामहे वसो मम। आहमजानि गर्भधमा त्वमजासि गर्भधम्॥ १९॥ —यजुः० २३।१९

भावार्थ—हे जगदीश्वर! हम लोग गणों के बीच गणों के पालनेहारे आपको स्वीकार करते हैं। अतिप्रिय सुन्दरों के बीच अतिप्रिय सुन्दरों के पालनेहारे आपकी प्रशंसा करते हैं। विद्या आदि पदार्थों की पुष्टि करनेहारों के बीच विद्या आदि पदार्थों की रक्षा करनेहारे आपको स्वीकार करते हैं। हे परमात्मन्! जिस आपमें सब प्राणी बसते हैं, सो आप मेरे न्यायाधीश हूजिए। जिस गर्भ के समान संसार को धारण करनेहारी प्रकृति को धारण करनेहारे आप जन्मादि दोषरहित भली-भाँति प्राप्त होते हैं, उस प्रकृति के धर्त्ता आपको मैं अच्छे प्रकार जानूँ॥ १९॥

इस मन्त्र में पौराणिक सूँडधारी, मूषक-सवार गणेश की गन्ध भी नहीं है।

(७६) प्रश्न—शतपथ और कात्यायनसूत्र ने अश्वमेध-प्रकरण में अश्व में इसका विनियोग लगाया है। मरे हुए अश्व में ईश्वर का आह्वान होता है, अतएव यहाँ पर भी ईश्वर का ही आह्वान है; अश्व का आह्वान नहीं। इस मन्त्र का देवता गणपति है। जो गणपति है वही ईश्वर है। इस कारण अश्वमेध यज्ञ में किसी अन्य का आह्वान-पूजन नहीं है, अपितु गणपति का है।

—पृ० १८३, पं० १७

उत्तर—श्रीमान्‌जी! महीधरभाष्य में तो कहीं गणपति का आह्वान लिखा नहीं। वहाँ पर 'हे अश्व!' करके घोड़े का ही आह्वान लिखा है और महीधर ने इस मन्त्र का देवता भी अश्व ही माना है, गणपति नहीं। हाँ, किसी साइंस के सिद्धान्त के अनुसार मरे हुए घोड़े से यजमान की पत्नी का '**महिषी स्वयमेवाश्वशिश्नमाकृष्य स्वयोनौ स्थापयति।**' (मही० मं० २०) इस विधि से नियोजन करने पर बिजली के करण्ट की भाँति यदि गणपति का आह्वान हो जाता हो तो कोई आश्चर्य की बात नहीं है, क्योंकि जब यूरोपियन वैज्ञानक अनेक पदार्थों के मेल से आदमियों से बुलाने के साधन टेलीफोन, टेलीविज़न आदि अनेक यन्त्र बना सकते हैं तो क्या पौराणिक अश्वमेध यज्ञ में अश्व तथा यजमान-पत्नी के संयोजन से गणपति के बुलाने का एक यन्त्र भी आविष्कार नहीं कर सकते?

(७७) प्रश्न—'तं यज्ञं बर्हिषि' [यजुः० ३१।९] इस मन्त्र में विष्णु की पूजा वेद ने लिखी है।

—पृ० १८३, पं० १७

उत्तर—आप सिद्ध तो करना चाहते हैं मूर्त्तिपूजा और एक भी मन्त्र अभी तक ऐसा पेश नहीं कर सके कि जिससे सूर्य, विद्युत्, शक्ति, विष्णु आदि की मूर्त्ति बनाकर ईश्वर के स्थान में उनकी पूजा करने की आज्ञा सिद्ध हो सके। कहिए, यह 'प्रतिज्ञा-हानि' निग्रह-स्थान तो नहीं है जिसमें फँसकर आप पराजित हो रहे हैं।

इस मन्त्र का देवता भी पुरुष अर्थात् परमात्मा है। वृन्दा के सतीत्व को छल से भंग करनेवाले किसी विष्णु का इस मन्त्र में नाममात्र भी नहीं है और आपके भाष्यकार महीधर ने भी इस मन्त्र को साकार पूजा में नहीं लगाया, अपितु निराकार-पूजा में लगाया है, जैसे—'**यज्ञं यज्ञसाधनभूतं तं पुरुषं बर्हिषि मानसे यज्ञे प्रौक्षन् प्रोक्षितवन्तः**'—यज्ञ के साधनभूत पुरुष=परमात्मा को मानसिक यज्ञ में प्रयुक्त करते हैं। जब मन्त्र में विष्णु का नाम ही नहीं है और यह मन्त्र भी पुरुषसूक्त का है, तो इसमें आप विष्णु लाये कहाँ से? इस प्रकार की मिथ्या कल्पनाओं से अब वेदविरुद्ध मूर्त्तिपूजा का संसार में जीवित रहना असम्भव है। देखिए, मन्त्र का सत्य अर्थ इस प्रकार है—

तं यज्ञं बर्हिषि प्रौक्षन् पुरुषं जातमग्रतः। तेन देवा अयजन्त साध्या ऋषयश्च ये। —यजुः० ३१।९

भाषार्थ—हे मनुष्यो! जो विद्वान् और योगाभ्यास आदि साधन करते हुए मन्त्रार्थ जाननेवाले ज्ञानी लोग जिस सृष्टि के पूर्व प्रसिद्ध हुए सम्यक् पूजनेयोग्य पूर्ण परमात्मा को मानस ज्ञानयज्ञ में सींचते अर्थात् धारण करते हैं, वे ही उसके उपयोग किये हुए वेद से उसका पूजन करते हैं। उसको तुम लोग भी जानो॥९॥ इस मन्त्र का इसके सिवा कोई और अर्थ नहीं हो सकता।

(७८) प्रश्न—'अदो यद्दारु प्लवते' [ऋ० १०।१५५।३] इस मन्त्र में जगन्नाथरूप विष्णु की पूजा मौजूद है।

—पृ० १८३, पं० २३।

उत्तर—इस मन्त्र में न तो मूर्त्तिपूजा की आज्ञा है, और न ही जगन्नाथ या विष्णु आदि का नाम है। इस मन्त्र का देवता अर्थात् प्रतिपाद्य विषय 'अलक्ष्मीघ्नम्' अर्थात् 'दरिद्रता-नाश' है। इस मन्त्र में यह बतलाया गया है कि पुरुषों की कंगाली कैसे दूर हो सकती है। वेद कहता है कि

जहाज़ के द्वारा दूर-दूर देशों की समुद्रयात्रा करने से पुरुष अपनी निर्धनता का नाश करके धन-सम्बन्धी वृद्धि को प्राप्त हो सकता है। इसी विषय का इस मन्त्र में प्रतिपादन है। जैसे—

अदो यद्दारु प्लवते सिन्धोः पारे अपूरुषम्। तदा रभस्व दुर्हणो तेन गच्छ परस्तरम्॥
—ऋ० १०।१५५।३

भाषार्थ—यह जो काष्ठमय जहाज़ तैरता है और बिना पुरुषों के चप्पू आदि के खेने से ही, भापादि से समुद्र के पार पहुँचा देता है, उसको बहुत मज़बूत बनाकर उसका आश्रय लो तथा उससे दूर-दूर की यात्रा करो, ताकि तुम्हारी दरिद्रता का नाश हो।

ज़रा बतलाइए तो सही इसमें जगन्नाथजी के जूठे भात और जगन्नाथपुरी के मन्दिर पर खुदी हुई आदमी के क़द के बराबर चौरासी आसनों से विषयभोग करती हुई नंगी स्त्री तथा पुरुषों की मूर्त्तियाँ का कहाँ वर्णन है?

(७९) प्रश्न—'त्र्यम्बकं यजामहे' [यजुः० ३।६०] इस मन्त्र में तीन नेत्रवाले रुद्र परमात्मा की पूजा का विधान है। —पृ० १८४, मं० ६।

उत्तर—इस मन्त्र में भी परमेश्वर के स्थान में मूर्त्ति बनाकर पूजने का विधान नहीं हैं। यहाँ पर त्र्यम्बक शब्द से परमेश्वर का ही ग्रहण है; किसी कल्पित पौराणिक देवता का नाम नहीं है। अग्नि, चाँद और सूर्य ये तीनों परमात्मा के चक्षुवत्, अर्थात् सब संसार के दिखाने में सहायक हैं, इसलिए परमात्मा को त्र्यम्बक कहा गया है। इस बारे में महाभारत में भी लेख आता है कि—

तिस्रो देव्यो यदा चैनं भजन्ते भुवनेश्वरम्। द्यौरापः पृथिवी चैव त्र्यम्बकस्तु ततः स्मृतः॥
—महा० द्रोण० अ० २०३, श्लो० १२८

भाषार्थ—तीन देवियाँ उस परमात्मा का सेवन करती हैं—द्युलोक, जल तथा पृथिवी, अतः परमात्मा को त्र्यम्बक कहते हैं। [गीताप्रेस संस्करण में पाठभेद से यह श्लोक २०२।३० है। —सं०]

इससे स्पष्ट है कि परमात्मा के हमारी तरह से शारीरिक नेत्र नहीं हैं, अपितु लाक्षणिक रूप से सूर्य, चन्द्र, अग्नि आदि को ही नेत्रवत् वर्णन किया है, अतः कहीं त्र्यम्बक आता है तो कहीं सहस्राक्षः आता है, अतः सिद्ध है कि परमात्मा निराकार है। दुष्टों को दण्ड देने के कारण उसे रुद्र कहते हैं। मन्त्र के ठीक अर्थ इस प्रकार से हैं—

त्र्यम्बकं यजामहे सुगन्धिं पुष्टिवर्द्धनम्। उर्वारुकमिव बन्धनान्मृत्योर्मुक्षीय माऽमृतात्॥
—यजुः० ३।६०

भाषार्थ—हम लोग शुद्धगन्धयुक्त; शरीर, आत्मा और समाज के बल को बढ़ानेवाला जो रुद्ररूप जगदीश्वर है, उसकी निरन्तर स्तुति करें। उसकी कृपा से जैसे ख़रबूज़ा-फल पककर लता के सम्बन्ध से छूटकर अमृत के तुल्य होता है, वैसे हम लोग भी प्राण वा शरीर के वियोग से छूट जावें और मोक्षरूप सुख से श्रद्धारहित कभी न होवें।

आशा है इस मन्त्र के अर्थ को समझकर मूर्त्तिपूजा के भ्रम को आप हृदय से अवश्य निकाल देंगे।

(८०) प्रश्न—'भवाशर्वौ मृडतम्' इत्यादि [अथर्व० ११।२।१, मं० १-१६] इन सोलह मन्त्रों में शंकर के पूजन का वेद में विस्तारपूर्वक वर्णन है। —पृ० १८४, पं० २३।

उत्तर—इन मन्त्रों में मूर्त्ति बनाने या परमेश्वर के स्थान में मूर्त्तिपूजने का क़तई वर्णन नहीं है। मन्त्रों का देवता अर्थात् प्रतिपाद्य विषय 'रुद्र' है, जिसके अर्थ हैं दुष्टों को दण्ड देकर रुलानेवाला; अतः इन मन्त्रों में राजा तथा सेनापति का वर्णन है, क्योंकि ये दोनों दुष्टों को दण्ड देकर प्रजा को सुखी करते हैं। इन सोलह मन्त्रों में न तो शंकर और महादेव शब्द ही मौजूद

हैं और न ही इन मन्त्रों में महादेवजी के विशेषस्वरूप-प्रतिपादक शब्द ही विद्यमान हैं। देखिए, पौराणिक महादेव का विशेष स्वरूप इस प्रकार का है—

कपाली, वृषांकः, वृषवाहनः, नीलकण्ठः, कपर्दी, श्मशाननिलयः, श्मशानस्थः, कामपालः, भस्मप्रिय, भस्मशायी, कामी, कान्तः, भस्मोद्धूलितविग्रहः, भृत्यमर्कटरूपधृक्, व्याघ्रचर्माम्बरः, व्याली, उन्मत्तवेषः, कण्डलुधरः, नृत्यप्रियः, नित्यनृत्यः, ललाटाक्षो, मुण्डी, विरूपोः, विकृतः, पिंगलाक्षः, बह्वक्षः, नीलग्रीवः, सहस्रबाहुः, विरूपाक्षः, वराहशृंगधृक्, भूशया, शूली, जटी। —शिव० कोटिरुद्र० अ० ३५।

इससे सिद्ध हुआ कि इन मन्त्रों में पौराणिक शंकर का वर्णन नहीं है, अपितु राजा और सेना का वर्णन है। इन मन्त्रों के ठीक-ठीक अर्थ इस प्रकार हैं—

भवाशर्वौ मृडतं माभि यातं भूतपती पशुपती नमो वाम्।
प्रतिहितामायतां मा वि स्राष्टं मा नो हिंसिष्टं द्विपदो मा चतुष्पदः॥ १॥

भाषार्थ—हे भव और शर्व! सुख उत्पन्न करने और शत्रुनाशक राजा तथा सेनापते! तुम दोनों प्रसन्न होओ। हमारे विरुद्ध मत चलो। हे सत्ता के पालको! हे सब दृष्टिवालों के रक्षको! तुम दोनों को नमस्कार है। लक्ष्य पर लगाये और ताने हुए तीर को तुम दोनों मत छोड़ो, न हमारे दोपायों और चौपायों को मारो, अर्थात् सबकी रक्षा करो॥ १॥

शुने क्रोष्ट्रे मा शरीराणि कर्तमलिक्लवेभ्यो गृध्रेभ्यो ये च कृष्णा अविष्यवः।
मक्षिकास्ते पशुपते वयांसि ते विघसे मा विदन्त॥ २॥

भाषार्थ—कुत्ते के लिए, गीदड़ के लिए, अपने बल से भय देनेवाले के लिए, खाऊ गिद्धादिकों के लिए और जो हिंसाकारी कौवे हैं उनके लिए हमारे शरीरों को तुम दोनों मत करो—उन्हें मत दो। हे प्राणियों (प्रजा) के रक्षक! तेरी मक्खियाँ और तेरे पक्षी भोजन पर न प्राप्त होवें अर्थात्, इन सब दुःखदायक प्राणियों से हमारी रक्षा का प्रबन्ध करें॥ २॥

क्रन्दाय ते प्राणाय याश्च ते भव रोपयः। नमस्ते रुद्र कृण्मः सहस्राक्षायामर्त्य॥ ३॥

भाषार्थ—हे भव! सुख उत्पन्न करनेवाले राजन्! हे दुःखनाशक सेनापते! हे अमरकीर्तिवाले! सहस्र कर्मों में दृष्टिवाले! तुझको अपना रोदन मिटाने के लिए, तुझे अपना जीवन बढ़ाने के लिए और जो पीड़ाएँ है, उन्हें हटाने के लिए हम तुझे नमस्कार करते हैं॥ ३॥

पुरस्तात् ते नमः कृण्म उत्तरादधरादुत। अभीवर्गाद् दिवस्पर्य्यन्तरिक्षाय ते नमः॥ ४॥

भाषार्थ—हे राजन्! हे सेनापते! तुझे आगे से, ऊपर से और नीचे से नमस्कार। तुझे आकाश के अवकाश से अन्तरिक्षलोक को जानने के लिए हम नमस्कार करते है॥ ४॥

मुखाय ते पशुपते यानि चक्षूंषि ते भव। त्वचे रूपाय संदृशे प्रतिचीनाय ते नमः॥ ५॥

भाषार्थ—हे दृष्टिवालों के रक्षक! तुझे हमारे मुख के हित के लिए, हे सुखोत्पादक! तुझे जो हमारे दर्शन साधन हैं उनके लिए, हमारी त्वचा के लिए, सुन्दरता के लिए, आकार के लिए प्रत्यक्ष तुझे नमस्कार करते हैं॥ ५॥

अङ्गेभ्यस्त उदराय जिह्वाया आस्याय ते। दद्भ्यो गन्धाय ते नमः॥ ६॥

भाषार्थ—हे राजन्! तुझे हमारे अंगों के हित के लिए, उदर के हित के लिए, तुझे हमारी जिह्वा के हित के लिए और मुख के हित के लिए, तुझे हमारे दाँतों के हित के लिए, गन्ध-ग्रहण करने के लिए नमस्कार है॥ ६॥

अस्त्रा नीलशिखण्डेन सहस्राक्षेण वाजिना। रुद्रेणार्धकघातिना तेन मा समरामहि॥ ७॥

भाषार्थ—प्रकाश करनेवाले, नीली निधियों के पहुँचानेवाले, सहस्रों कर्मों में दृष्टिवाले,

बलवान्, हिंसकों के मारनेवाले राजा वा सेनापति के साथ हम लड़ाई न करें॥७॥

स नो भवः परि वृणक्तु विश्वत आपइवाग्निः परि वृणक्तु नो भवः।
मा नोऽभि मांस्त नमो अस्त्वस्मै॥८॥

भाषार्थ—वह सुख उत्पन्न करनेवाला राजा हमें दुष्ट कर्मों से सब ओर वर्जता, रोकता रहे। जैसे जल और अग्नि एक-दूसरे को रोकते हैं, वैसे भव=सुख उत्पन्न करनेवाला राजा हमें रुकवाता रहे। हमें वह न सतावे। इस राजा को नमस्कार होवे॥८॥

चतुर्नमो अष्टकृत्वो भवाय दशकृत्वः पशुपते नमस्ते।
तवेमे पञ्च पशवो विभक्ता गावो अश्वाः पुरुषा अजावयः॥९॥

भाषार्थ—सुखोत्पादक राजा को चार बार, आठ बार नमस्कार है। हे दृष्टिवाली प्रजा के रक्षक! तुझे दश बार नमस्कार है। तेरे ही बाँटे हुए ये पाँच दृष्टिवाले गौवें, घोड़े, पुरुष, बकरी और भेड़ें हैं॥९॥

तव चतस्त्रः प्रदिशस्तव द्यौस्तव पृथिवी तवेदमुग्रोर्वन्तरिक्षम्।
तवेदं सर्वमात्मन्वद यत् प्राणत् पृथिवीमनु॥१०॥

भाषार्थ—हे तेजस्वी सेनापते! तेरी चारों बड़ी दिशाएँ हैं। तेरा प्रकाशमय सूर्य, तेरी फैली हुई भूमि, तेरा यह चौड़ा आकाशलोक है। तेरा ही यह सब है जो आत्मावाला और प्राणवाला पृथिवी पर है॥१०॥

उरुः कोशो वसुधानस्तवायं यस्मिन्निमा विश्वा भुवनान्यन्तः।
स नो मृड पशुपते नमस्ते परः क्रोष्टारो अभिभाः श्वानः परो यंत्वघरुदो विकेश्यः॥११॥

भाषार्थ—हे सभापते! तेरा यह चौड़ा कोष श्रेष्ठ पदार्थों का आधार है, जिसके भीतर ये सब प्रजा हैं। हे दृष्टिवाली प्रजा के रक्षक! तू हमें सुखी रख। तेरे लिए नमस्कार हो। चिल्लानेवाले गीदड़, सम्मुख चमकती हुई विपत्तियाँ, घूमनेवाले कुत्ते और केश फैलाये हुए भयानक पाप की पीड़ाएँ दूर चली जावें॥११॥

धनुर्बिभर्षि हरितं हिरण्ययं सहस्त्रघ्निं शतवधं शिखण्डिनम्।
रुद्रस्येषुश्चरति देवहेतिस्तस्यै नमो यतमस्यां दिशीतः॥१२॥

भाषार्थ—हे परम उद्योगी सेनापते! शत्रुनाशक, बलयुक्त, सहस्त्रों शत्रुओं के मारनेवाले, सैकड़ों हथियारोंवाले धनुष को तू धारण करता है। दुःखविनाशक सेनापति का बाण, दिव्य वज्र चलता रहा है। उस बाण के रोकने के लिए यहाँ से चाहे जौन-सी दिशा हो, उसमें नमस्कार है॥१२॥

योऽभियातो निलयते त्वां रुद्र निचिकीर्षति। पश्चादनु प्रयुङ्क्षे तं विद्धस्य पदनीरिव॥१३॥

भाषार्थ—जो हारा हुआ दुष्कर्मी छिप जाता है और हे दुःखनाशक! जो मुझे हराना चाहता है, उसका तू पीछे-पीछे अनुप्रयोग करता है, अर्थात् यथापराध उसे दण्ड देता है, जैसे घायल का पद खोजा जाता है॥१३॥

भवारुद्रौ सयुजा संविदानावुभावुग्रौ चरतो वीर्याय।
ताभ्यां नमो यतमस्यां दिशीतः॥१४॥

भाषार्थ—समान संयोगवाले; समान ज्ञानवाले, तेजस्वी दोनों भव और रुद्र अर्थात् राजा तथा सेनापति वीरता देने को विचरते हैं। यहाँ से चाहे जौन-सी दिशा हो उसमें उन दोनों को नमस्कार है॥१४॥

नमस्तेऽस्त्वायते नमो अस्तु परायते। नमस्ते रुद्र तिष्ठत आसीनायोत ते नमः॥१५॥

भाषार्थ—आते हुए के हित के लिए तुझे नमस्कार होवे, दूर जाते हुए के हित के लिए नमस्कार होवे। हे रुद्र! दुःखनाशक सेनापते! खड़े होते हुए के हित के लिए तुझे नमस्कार और बैठे हुए के हित के लिए तुझे नमस्कार है॥ १५॥

नमः सायं नमः प्रातर्नमो रात्र्या नमो दिवा। भवाय च शर्वाय चोभाभ्यामकरं नमः॥ १६॥

भाषार्थ—सायंकाल में नमस्कार, प्रातःकाल में नमस्कार, रात्रि में नमस्कार, दिन में नमस्कार। भव अर्थात् सुख उत्पन्न करनेवाले राजा और शर्व अर्थात् दुःखनाश करनेवाले सेनापति दोनों को मैंने नमस्कार किया है॥ १६॥

आशा है कि अब आप पौराणिक महादेव की पूजा का विचार हृदय से निकालकर एक ईश्वर की पूजा में ही चित्त लगाने की कृपा करेंगे।

महावीर

(८१) प्रश्न—यज्ञ में महावीर नामक प्रजापति की प्रतिमाएँ बनती हैं। —पृ० १८८, पं० ७

उत्तर—श्रीमान्‌जी! यह महावीर नाम के प्रजापति कौन थे? क्या किसी पुराण में इनका इतिहास मिलता है और क्या महावीर को कहीं प्रजापति भी लिखा है? आपके ग्रन्थों में दश ही प्रजापतियों का वर्णन मिलता है। जैसे मनुस्मृति में आता है कि—

अहं प्रजाः सिसृक्षस्तु तपस्तप्त्वा सुदुश्चरम्। पतीन् प्रजानामसृजं महर्षीनादितो दश॥ ३४॥
मरीचिमत्र्यङ्गिरसौ पुलस्त्यं पुलहं क्रतुम्। प्रचेतसं वसिष्ठं च भृगुं नारदमेव च॥ ३५॥

—मनु० १। ३४-३५

मैंने प्रजा पैदा करने की इच्छा से कठोर तप करके आदि में दश महर्षियों को प्रजाओं का पति पैदा किया॥ ३४॥ मरीचि, अत्रि, अङ्गिरा, पुलस्त्य, पुलह, क्रतु, प्रचेता, वसिष्ठ, भृगु, और नारद ये दश प्रजापति थे॥ ३५॥

कहिए महाराज! इन दशों में तो महावीरजी का नाम नज़र नहीं आता। आपने अपने सिद्धान्त के विरुद्ध यह ग्यारहवाँ प्रजापति कहाँ से घड़ डाला? आपके इस प्रकरण में भी, जिसका आप वर्णन करने लगे हैं **'प्रजापतिर्वा एष यज्ञो भवति।'** [शतपथ १४। १। २। १८] यज्ञ का नाम तो प्रजापति लिखा है, किन्तु महावीर को प्रजापति कहीं भी नहीं लिखा। फिर तनिक यह भी बताने की कृपा करें कि उन महावीर की मूर्त्तियों से यज्ञ में क्या काम लिया जाता है? क्या वे राम-लक्ष्मण की भाँति धनुष-बाण लेकर राक्षसों से यज्ञ की रक्षार्थ बनाई जाती हैं? आखिर कुछ तो बताइए! यदि आप नहीं बता सकते तो लीजिए हम आपको बतलाते हैं कि यह महावीरजी क्या वस्तु है।

यद्यपि हम शतपथ को स्वतःप्रमाण नहीं मानते और उसकी वेदविरुद्ध कल्पनाओं का उत्तर देने की हमारी कोई जुम्मेवारी नहीं है, तथापि हम आपकी भ्रान्ति दूर करने के लिए बतला देना चाहते हैं कि शतपथ के लेखानुसार महावीर एक घृतपात्र का नाम है, जिसका यज्ञ में प्रयोग किया जाता है। यह उसी पात्र के बनाने का वर्णन है। किसी पूँछवाले महावीर प्रजापति की मूर्त्ति बनाने का वर्णन नहीं है।

(८२) प्रश्न—'देवी द्यावापृथिवी' [यजुः० ३७। ३] इस मन्त्र में महावीर की मूर्त्ति बनाने के लिए जल तथा मिट्टी के ग्रहण करने का वर्णन है। —पृ० १८८, पं० ९

उत्तर—बस महाराज! बस कीजिए। यह पौराणिक खुराफ़ात वेदों के सिर मढ़ने की कृपा न कीजिएगा। जब वेद परमात्मा को **'अकायम्'** कह रहा है और **'न तस्य प्रतिमा अस्ति'** से परमात्मा की मूर्त्ति का निषेध करता हुआ मूर्त्तिपूजा को **'अन्धन्तमः प्रविशन्ति'** से नरक का रास्ता

बता रहा है तो वेद में मूर्त्तिनिर्माण की विधि कहाँ? अच्छा आप यह बतलाने की कृपा करें कि 'महावीर की मूर्त्ति बनाऊँगा' तथा 'महावीर के बनाने के हेतु यह तुम्हारा ग्रहण है' यह मन्त्र के कौन-से शब्दों का अर्थ है और क्या मन्त्र में महावीर तथा मूर्त्ति शब्द कहीं नज़र पड़ता है। यदि नहीं तो फिर वेद के नाम से अपनी मनमानी बात बयान करना क्या ईमानदारी कहला सकती है? सुनो और कान खोलकर सुनो कि वेद में कहीं पर भी महावीरादि की मूर्त्ति बनाने का वर्णन नहीं है। यदि आपके पौराणिक ग्रन्थ किसी वेदविरुद्ध काम को वेदमन्त्र पढ़कर करने का विधान कर डालें तो इसमें वेद का क्या अपराध है? यह दोष तो वेदमन्त्र पढ़कर वेदविरुद्ध काम करनेवाले का है। जैसे आपके पारस्करगृह्यसूत्र ने कां० १ कण्डि० ३ सू० २७ में **'माता रुद्राणाम्'** इत्यादि मन्त्र से गौ मारकर मधुपर्क में मांस-भोजन की आज्ञा दे डाली, यद्यपि मन्त्र में गौ की महिमा तथा मारने का निषेध वर्णन किया गया है। बतलाइए, इसमें अपराध वेद का है या पारस्कर का? बस यही अवस्था सब ग्रन्थों की है। इस मन्त्र का ठीक-ठीक अर्थ इस प्रकार है—

देवी द्यावापृथिवी मखस्य वामद्य शिरो राध्यासं देवयजने पृथिव्याः।
मखाय त्वा मखस्य त्वा शीर्ष्णे॥ ३॥

भाषार्थ—उत्तम गुणों से युक्त प्रकाश और भूमि के तुल्य वर्त्तमान अध्यापिका और उपदेशिका स्त्रियो! इस समय पृथिवी के बीच विद्वानों के यज्ञस्थल में तुम दोनों के उत्तम अवयव को मैं सम्यक् सिद्ध करूँ। यज्ञ के उत्तम अवयव की सिद्धि और यज्ञ के लिए तुझको सम्यक् सिद्ध करूँ॥ ३॥

इस वेदमन्त्र में महावीर का लेशमात्र भी वर्णन नहीं है।

(८३) प्रश्न—इस मन्त्र पर 'कात्यायनश्रौतसूत्र' लिखता है कि **'मृदमादत्ते पिण्डवद्देवी-द्यावापृथिवीति'** [कां० २५।१।४] **'द्यावापृथिवी'** इस मन्त्र से जलमिश्रित मृत्पिण्ड को उठावे।
—पृ० २८८, पं० १४

उत्तर—वेदमन्त्र में मृत्पिण्ड का वर्णन नहीं है। कात्यायन अपनी वा शतपथ की कल्पना को वेद के सिर मढ़कर जनता को भ्रम में डाल रहा है। यह दोष वेद का नहीं अपितु कात्यायन तथा शतपथ का है।

(८४) प्रश्न—इसपर शतपथ **'अथ मृत्पिण्डं परिगृह्णाति।'** [शतपथ १४।१।२।९] इत्यादि में लिखता है कि 'और इन ही दोनों वस्तुओं से महावीर की मूर्त्ति बनाते हैं।'
—पृ० १८८, पं० १८

उत्तर—आपको स्वार्थ ने इतना अन्धा कर रक्खा है कि मूर्त्तिपूजा को सिद्ध करने के उन्माद में दूसरी पुस्तकों के पाठ का मनमाना अर्थ कर रहे हैं। भला! बतलाइए तो सही कि शतपथ के इस पाठ में मूर्त्ति शब्द कहाँ है? हम शतपथ का पाठ नीचे दे रहे हैं—

अथ मृत्पिण्ड परिगृह्णाति। अभ्र्य दक्षिणतो हस्तेन च हस्तेनैवोत्तरतो देवी द्यावापृथिवी इति यज्ञस्य शीर्षच्छिन्नस्य रसो व्यक्षरत्स इमे द्यावापृथिवी अगच्छद्यन्मृदियं तद्यदापोऽसौ तन्मृदश्चापां च महावीराः कृता भवन्ति तेनैवैनमेतद्रसेन समर्धयति कृत्स्नं करोति तस्मादाह देवी द्यावापृथिवी इति मखस्य वामद्य शिरो राध्यासमिति यज्ञो वै मखो यज्ञस्य वामद्य शिरो राध्यासमित्येवैतदाह देवयजने पृथिव्या इति देवयजने हि पृथिव्यै सम्भरति मखाय त्वा मखस्य त्वा शीर्ष्ण इति यज्ञो वै मखो यज्ञाय त्वा यज्ञस्य त्वा शीर्ष्ण इत्येवैतदाह॥ ९॥

इस पाठ में **'महावीराः कृता भवन्ति'**—'महावीर बनाये जाते हैं' यह पाठ तो है, जिसमें यज्ञ के पात्र महावीर बनाने का वर्णन है, किन्तु यहाँ पर 'मूर्त्ति' शब्द का निशान भी नहीं है जोकि आपने अपनी ओर से मिला दिया है। हाँ, शतपथ ने जो अपनी कल्पना को वेदमन्त्र की व्याख्या

प्रकट करने का यत्न किया है, वह मिथ्या ही है, क्योंकि वेदमन्त्र में यह वर्णन नहीं है।

(८५) प्रश्न—इससे आगे **'देव्यो वम्र्यो भूतस्य'** [यजुः० ३७।४] इस मन्त्र से महावीर की मूर्त्ति बनाने के लिए बांबी की मिट्टी ग्रहण करने का वर्णन है। —पृ० १८९, पं० १४

उत्तर—वेद के इस मन्त्र में भी न महावीर का वर्णन है और न ही उसकी मूर्त्ति बनाने का। इस मन्त्र का देवता अर्थात् प्रतिपाद्य विषय 'यज्ञ' है। आप यह बतलाने की कृपा करें कि 'अब महावीर की मूर्त्ति को सम्पादन करूँ' और 'महावीर के हेतु तुझे ग्रहण करता हूँ' यह मन्त्र के कौन-से पदों के अर्थ हैं? एक पौराणिक विषय को वेद के सिर मढ़ना ईमानदारी में शामिल नहीं है। देखिए, मन्त्र के ठीक-ठीक अर्थ इस प्रकार हैं—

देव्यो वम्र्यो भूतस्य प्रथमजा मखस्य वोऽद्य शिरो राध्यासं देवयजने पृथिव्याः।
मखाय त्वा मखस्य त्वा शीर्ष्णे॥ —यजुः ३७।४

भाषार्थ—हे थोड़ी अवस्थावाली, तेजस्विनी, विदुषी स्त्रियो! सिद्ध हुए यज्ञ की सम्बन्धिनी पृथिवी के उस स्थान में जहाँ विद्वान् लोग संगति करते हैं, आज तुम लोगों को शिर के तुल्य मैं सम्यक् सिद्ध किया करूँ। यज्ञ का निर्माण करनेवाली तुझको शिर के तुल्य वर्त्तमान यज्ञ के लिए सम्यक् उद्यत वा सिद्ध करूँ॥४॥

क्या कोई भी मनुष्य इस मन्त्र से महावीर-निर्माण सिद्ध कर सकता है?

(८६) प्रश्न—इसपर कात्यायनश्रौतसूत्र लिखता है कि **'उत्तरतो देव्यो वम्र्य इति वल्मीकवपाम्।'** [का० २६।१।५६] बाँबी से मिट्टी लेकर मौन धारण कर मृत्पिण्ड से उत्तर की तरफ़ रख दे। —पृ० १८६, पं० १९

उत्तर—कात्यायनसूत्र ने जो इस विधि को वेद के सिर मढ़ा है, यह उसकी मिथ्या कल्पना है, क्योंकि मन्त्र में बाँबी की मिट्टी के लिए कोई शब्द नहीं है। हाँ, यह पौराणिक कल्पना है, किन्तु इसमें भी महावीर नामक यज्ञपात्र के बनाने की विधि है। बन्दररूपधारी पूँछवाले महावीर की मूर्त्ति बनाने का कोई वर्णन नहीं है।

(८७) प्रश्न—इसपर शतपथ लिखता है कि **'अथ वल्मीकवपाम्'** इत्यादि [शत० १४।१।२।१०] बाँबी की मिट्टी लेता है और उससे महावीर की मूर्त्ति को परिपूर्ण करता है। —पृ० १८९, पं० २३

उत्तर—यद्यपि हम शतपथ को स्वत:प्रमाण नहीं मानते और इसकी वेदविरुद्ध कल्पनाओं के हम उत्तरदाता नहीं हैं, और शतपथ का अपनी कल्पना को वेद के मन्त्र में बतलाने का यत्न करना सर्वथा मिथ्या और निर्मूल है, तथापि शतपथ के इस पाठ में भी महावीर-पात्र के ही बनाने का वर्णन है, 'मूर्त्ति' शब्द वहाँ भी नहीं है, और न ही किसी पूँछवाले महावीर का वर्णन है। देखिए, शतपथ का पाठ यह है—

अथ वल्मीकवपाम्। देव्यो वम्र्य इत्येता वा एतदकुर्वत यथा यथैतद्यज्ञस्य शिरोऽच्छिद्यत ताभिरेवैनमेतत्समर्धयति कृत्स्नं करोतीति॥१०॥

बतलाइए, इस पाठ में मूर्त्ति शब्द कहाँ है?

(८८) प्रश्न—'इत्यग्र आसीन्मखस्य।' [यजुः० ३७।५] इस मन्त्र द्वारा वराह की खोदी हुई मिट्टी लेकर उससे यज्ञशिर महावीर के बनाने का वर्णन है। —पृ० १९०, पं० ३

उत्तर—हम इस बात को फिर बतला देना चाहते हैं कि इस महावीर यज्ञपात्र के बनाने का वर्णन वेदमन्त्रों में नहीं है, अपितु यह शतपथ तथा कात्यायन की अपनी ही कल्पना है, जिसे वे वेद के सिर मढ़ना चाहते हैं। देखिए, इस मन्त्र में भी न वराह का वर्णन है न उससे खोदी

हुई मिट्‌टी का, न ही कहीं महावीर का वेदमन्त्र में निशान है। वेदमन्त्र का देवता अर्थात् प्रतिपाद्य विषय 'यज्ञ' ही है और मन्त्र का ठीक-ठीक अर्थ यूँ है—

इयत्यग्र आसीन्मखस्य तेऽद्य शिरो राध्यासं देवयजने पृथिव्याः। मखाय त्वा मखस्य त्वा शीर्ष्णे॥

—यजुः० ३७।५

भाषार्थ—हे विद्वन्! मैं पहले सत्काररूप यज्ञ के लिए तुझको, संगतीकरण की उत्तमता के लिए तुझको सिद्ध करूँ। जिस आपके यज्ञ का उत्तम गुण है उस आपको आज भूमि के बीच इतने विद्वानों के पूजने में सम्यक् सिद्ध होऊँ॥५॥

क्योंजी! यह वराह से खोदी हुई मिट्‌टी में क्या विशेषता होती है जो उसको महावीर-निर्माण में आवश्यक अङ्ग समझा गया है? क्या उसकी थूथनी से लगे हुए किसी विशेष पदार्थ से मिट्‌टी में विशेष गुण उत्पन्न हो जाते हैं? और क्या वराह और महावीर का क़ारूरः (मूत्र) आपस में मिलता-जुलता है? बात क्या है? क्या हमारे पौराणिक भाई इसपर कुछ प्रकाश डालेंगे?

(८९) प्रश्न—इसपर कात्यायनश्रौतसूत्र लिखता है कि **'इयत्यग्रे इति वराहविहितम्।'** [का० २६।१।७] इस मन्त्र से जंगली वराह की खोदी हुई मिट्टी को लेकर मौन होकर वल्मीक की मिट्टी के उत्तर की ओर मृगचर्म पर रख दे। —पृ० १९०, पं० ८

उत्तर—वेदमन्त्र में उक्त विधि का प्रतिपादन बतलाना तो सर्वथा निर्मूल ही है। हाँ, कात्यायन तथा शतपथ की अपनी ही यह कल्पना यज्ञ के मुख्य घृतपात्र महावीर के बनाने की है। इसमें भी मूर्त्ति वा किसी प्राणिविशेष की आकृति बनाने का वर्णन नहीं है।

(९०) प्रश्न—इसपर शतपथ **'अथ वराहविहितम्।'** [शत० १४।१।२।११] लिखता है कि मूर्त्ति बनाने को वराहविहित मृत्तिका लेता है। —पृ० १९०, पं० १२

उत्तर—कहिए महाराज! आपके ख़याल में यदि वराह ने सृष्टि के आरम्भ में पृथिवी का उद्धार कर दिया था तो क्या सारे ही वराह पृथिवी के पति हो गये और पूज्य होकर उनकी खोदी मिट्टी भी यज्ञ में उपयोगी बन गई? और यदि यही बात है तो वराह की मिट्टी से महावीर की मूर्त्ति बनाना अन्याय है; क्यों न यज्ञ में वराह की ही मूर्त्ति बनाई जावे? क्या महावीर ने वराह से भी बढ़कर कोई उपकार किया है? इस विषय में कुछ प्रकाश अवश्य डालना चाहिए। हाँ, फिर आप मूर्त्ति शब्द कहाँ से ले-आये? इस पाठ में तो कहीं मूर्त्ति शब्द नज़र नहीं आता। देखिए, पाठ यूँ है—

अथ वराहविहितम्। इयती ह वा इयमग्रे पृथिव्या स प्रादेशमात्री तामेमूष इति वराह उज्जघान सोऽस्याः पतिः प्रजापतिस्तेनैवैनमेतन्मिथुनेनाप्रियेण धाम्ना समर्धयति कृत्स्नं करोतीति॥ ११॥

कृपया अब बतलाइए, इस पाठ में मूर्त्ति शब्द कहाँ है?

(९१) प्रश्न—इससे आगे **'इन्द्रस्य'** इस मन्त्र से महावीर बनाने के लिए रोहिष तृण (घास) का ग्रहण किया है। मन्त्र में घास को विष्णु-तेज कहकर महावीर बनाने के लिए ग्रहण किया है। —पृ० १९०, प० १८

उत्तर—'इन्द्रस्यौजः' [यजुः० ३७।६] इस मन्त्र में न तो महावीर के बनाने का वर्णन है और न ही उसके लिए घास को विष्णु-तेज कहकर ग्रहण किया है। इस मन्त्र का विषय यज्ञ है और और इसमें यह वर्णन है कि जो मनुष्य धर्मयुक्त कार्यों को करते हैं, वे सबसे शिरोमणि होते हैं, अतः आपकी कल्पना सर्वथा निर्मूल है।

(९२) प्रश्न—कात्यायनश्रौतसूत्र कहता है कि इस घास को लेकर मौन धारण कर वराह की मिट्‌टी के उत्तर की ओर मृगचर्म पर रख दे। —पृ० १९०, पं० २

उत्तर—कात्यायन की यह विधि यज्ञपात्र बनाने की स्वयं कल्पित है, वेद में इसका वर्णन नहीं है।

(९३) प्रश्न—शतपथ **'अथ यत्पूयन्'** [१४।१।२।१२] कहता है कि यह घास विष्णु-तेज से उत्पन्न हुआ है। इसलिए यज्ञ के मुख्य महावीर-निर्माण में इसको लिया जाता है।

—पृ० १९०, पं० २२

उत्तर—यह यज्ञार्थ महावीर नाम घृतपात्र की कल्पना शतपथ की स्वयं कल्पित है, वेद की नहीं है।

(९४) प्रश्न—'चत्वारि शृङ्गा' [यजुः० १७।९१] इस मन्त्र में यज्ञ को **'त्रिधा बद्धः'** लिखा है। इसकी भाषा यह है कि यज्ञ मन्त्र, ब्राह्मण और कल्पबद्ध है। यज्ञप्रकरण में जो अर्थ मन्त्र का होता है, उसी अर्थ को ब्राह्मण कहता है और क्रिया बतलाता हुआ उसी अर्थ को कल्पसूत्र कहता है। यज्ञप्रकरण होने के कारण इस प्रकरण में मन्त्र, ब्राह्मण, कल्प तीनों ही मिलकर चलते हैं।

—पृ० १९०, पं० २५

उत्तर—यह ठीक है कि मन्त्र जिस बात को कहता है ब्राह्मण उसका अनुवाद करता है और कल्प उसकी विधि वर्णन करता है। इनमें वेद ही ईश्वरकृत होने से स्वतःप्रमाण है; ब्राह्मण तथा कल्प ऋषिकृत होने से परतःप्रमाण हैं, ये दोनों वहाँ तक ही प्रमाण हैं जहाँ तक कि वेद के अनुकूल हों। जहाँ ये वेद के प्रतिकूल हों वहाँ ये प्रमाण न हो सकेंगे। यहाँ पर वेदमन्त्रों में महावीर का नाम तथा उसके बनाने की विधि का सर्वथा अभाव है और ब्राह्मण तथा कल्प ने स्वतन्त्ररूप से उसकी कल्पना की है, अतः यह विधि मानने के योग्य नहीं है। चूँकि ब्राह्मण तथा कल्प महावीर को यज्ञपात्र मानते हैं, अतः यहाँ पर किसी प्रजापति की अथवा पूँछवाले हनुमान्‌जी की मूर्त्ति की कल्पना करना सर्वथा हीं ब्राह्मण तथा कल्प के भी विरुद्ध होने से मिथ्या प्रलाप ही है।

(९५) प्रश्न—आगे **'प्रैतु ब्रह्मणस्पतिः।'** [यजुः० ३७।७] मन्त्र है। उसका अर्थ है कि वेद के रक्षक परमात्मा महावीररूप में हमारे यज्ञ में आवें। —पृ० १९१, पं० ५

उत्तर—आपने तो जनता को भ्रम में डालने का ठेका ही ले-रक्खा है, वरना इस मन्त्र में न तो महावीर का नाम है और न ही परमात्मा से महावीररूप में आने की प्रार्थना है। अपितु इस मन्त्र में यह वर्णन है कि 'जो मनुष्य और जो स्त्रियाँ स्वयं विद्या आदि गुणों को पाकर एवं अन्यों को प्राप्त कराके विद्या, सुख और धर्म की वृद्धि के लिए सुशिक्षित जनों को अधिक विद्वान् करते हैं, वे पुरुष और स्त्रियाँ निरन्तर आनन्दित होते हैं।'

(९६) प्रश्न—इसपर कात्यायनसूत्र लिखता है कि **'कृष्णाजिनं परिगृह्योत्तरतः परिवृत्तं गच्छन्ति प्रैतु ब्रह्मणस्पतिरिति।'** [का० २६।१।१२] **'प्रैतु ब्रह्मणस्पतिः'** इस मन्त्र को बोलकर उस समस्त सामग्रीवाले कृष्ण-मृगचर्म को यज्ञस्थल के अन्दर ले-जावे ओर तीन महावीर बनावे।

—पृ० १९१, पं० ६

उत्तर—कोई किसी मन्त्र को बोलकर कुछ भी करे यह कर्त्ता की स्वतन्त्र इच्छा है, वरना इस मन्त्र में इस विधि का नाम तक नहीं है। हाँ, वेद में न होते हुए भी शतपथ तथा कात्यायन ने महावीर नाम के यज्ञापात्र के बनाने की कल्पना अवश्य की है। यहाँ पर आपने शतपथ तथा कात्यायन के उस लेख को छोड़ दिया जिसमें यह लिखा है कि वह महावीर किस शक्ल का बनावें। इस लेख से यह स्पष्ट हो जाता है कि वह महावीर किसी कल्पित प्रजापति की मूर्त्ति है या यज्ञपात्र ही है। हम उस समस्त पाठ को नीचे देते हैं, पाठक ध्यान से पढ़ें—

मृत्पिण्डमादाय महावीरं करोति प्रादेशमात्रं प्रादेशमात्रमिव हि शिरो मध्ये संग्रहीतं मध्ये संग्रहीतमिव हि शिरोऽथास्योपरिष्टात्त्र्यंगुलं मुखमुन्नयति नासिकामेवास्मिन्नेतद्दधाति तं निष्ठितमभिमृशति। —शत० १४।१।२।१७

मृदमादाय मखायेति महावीरं करोति। प्रादेशमात्रमूर्ध्वमासेचनवन्तं मेखलावन्तं मध्यसंग्रहीतमूर्ध्वं मेखलायास्त्र्यंगुलम्।

—का० २६।१।१६

महावीरपर्याप्तं तूष्णीं मृत्पिण्डमादाय मन्त्रेण महावीरं करोति। कीदृशम्? प्रादेशोच्चं गर्तवन्तं मेखलायुतं मध्ये संकुचितं मेखलोपरि त्र्यंगुलोच्चमिति सूत्रार्थः। —महीधरभाष्य यजुः० ३७।७

भाषार्थ—मिट्टी लेकर, मन्त्र पढ़कर, पर्याप्त महावीर बनाता है। एक बालिश्त ऊँचा, गढ़ेवाला, सिंचन करने में समर्थ, मध्य में खाली, ऊपर मेखला तीन अंगुल ऊँची मुख के समान, नासिका भी उसी में बनाता है। उस पड़े हुए को मसलता है।

अब बतलाइए, उपर्युक्त शक्ल महावीर नामक यकज्ञपात्र की हो सकती है या महावीर नामक प्रजापति हनुमान् की? यदि यह हनुमान् की मूर्त्ति है तो आँखें, कान, हाथ, पैर, पैट, पूँछ आदि अङ्गों के बनाने का विधान क्यों नहीं है। बीच में से संकुचित, सेंचन में समर्थ, गढ़ेवाला, मेखला तीन अंगुलवाला इत्यादि विधान प्रजापति हनुमान् की मूर्त्ति में कैसे संगत हो सकता है? इससे सिद्ध हुआ कि महावीर यज्ञ-पात्र का ही नाम है। हनुमान् की मूर्त्ति का नाम नहीं है।

(९७) प्रश्न—फिर **'मखस्य शिरोऽसि'** इस मन्त्र से अपने बायें हाथ में रक्खे हुए महावीर को दाहिने हाथ से छुए और इसी मन्त्र को पढ़कर इससे महावीर की स्तुति करे।

—पृ० १९१, पं० १०

उत्तर—उपर्युक्त मन्त्र [यजुः० ३७।८] में न महावीर का नाम है, न बायें हाथ में रखकर दायें हाथ से छूने का वर्णन है, न ही स्तुति करने की गन्ध भी है। इस मन्त्र में तो यह वर्णन किया गया है कि 'जो लोग सत्कार करने में उत्तम हैं, वे दूसरों को भी सत्कारी बनाके मस्तक के तुल्य उत्तम अवयवोंवाले हों'। आपने यहाँ पर शतपथ और कात्यायन को क्यों चुरा लिया? इसलिए कि आपकी महावीर-स्तुति की पोल न खुल जावे। श्रीमान्‌जी! यहाँ महावीर प्रजापति हनुमान् की स्तुति नहीं, अपितु महावीर यज्ञपात्र को घासविशेष की कूँची से घिसकर खुरदरापन हटाकर मृदु करने का वर्णन है। वह समस्त पाठ इस प्रकार है—

अथ गवेधुकाभिर्हिन्वति। —शत० १४।१।२।१९

गवेधुकाभिः श्लक्ष्णयति मखायेति प्रतिमन्त्रम्। —का० २६।१।२२

गवेधुकाभिः महावीरान् घर्षणेन मृदून् करोति मखायेति प्रतिमन्त्रमेकैकम्।

—महीधरभाष्य यजुः० ३७।८

भाषार्थ—'मखाय' इस प्रकार प्रत्येक मन्त्र से अलग-अलग महावीरों को घासविशेष की कूँची से घिसकर मृदु करता है।

श्रीमान्‌जी! फरमाइए, यह घासविशेष की कूँची से घिसकर यज्ञ-पात्र महावीर को मृदु किया जा रहा है या महावीर प्रजापति की स्तुति हो रही है? झूठे का सत्यनाश हो!

(९८) प्रश्न—फिर **'अश्वस्य त्वा वृष्णः'** [यजुः० ३७।९] इस मन्त्र से घोड़े की लीद से महावीर को पकावे। —पृ० १९१, पं० ११

उत्तर—इस मन्त्र को पढ़कर कोई कैसा ही काम करे, किन्तु इस मन्त्र में न तो कहीं पर महावीर का नाम है और न ही लीद से उसके पकाने का वर्णन है, अपितु इस मन्त्र में वैद्यक का प्रकरण होने से यह वर्णन है कि 'जो मनुष्य रोगादि क्लेश की निवृत्ति के लिए अग्नि आदि पदार्थों का प्रयोग करते हैं वे सुखी होते हैं।'

कृपया यह तो बतलावें कि यहाँ आप शतपथ और कात्यायन को क्यों छोड़ गये? इसलिए कि महावीर प्रजापति की मूर्त्ति को पाखाने की धूनि देने से कुछ शेख़ी किरकिरी होने लगी? देखिए, शतपथ तथा कात्यायन क्या कहते हैं—

अथैनान् धूपयति। अश्वस्य त्वा वृष्णः शक्ना धूपयामीति। —शत० १४।१।२।२०
अश्वशकृता धूपयत्यश्वस्येति प्रतिमन्त्रम्। —का० २६।१।२३
प्रदहनं च मखायेति प्रतिमन्त्रम्। —का० २६।१।२४
दक्षिणाग्निदीप्तेनाश्वपुरीषेण त्रिभिर्मन्त्रैस्त्रीन् महावीरान् धूपयेत्।
एकैकधूपेन सप्तसप्ताश्वशकृन्ति गृह्णाति (२३) मखाय मखस्य शीर्ष्णे त्वा त्वां निर्दहामि (२४)

भाषार्थ—दक्षिण अग्नि के जलने पर घोड़े के पाखाने से तीन मन्त्रों से तीन महावीरों को धूप दे। एक-एक महावीर के धूप देने में सात-सात घोड़ों का पाखाना ग्रहण करता है। मखाय इत्यादि मन्त्र से तुझे जलाता हूँ वा तपाता वा पकाता हूँ।

कहिए महाराज! यह यज्ञ-पात्र महावीर को पकाया जा रहा है या महावीर प्रजापति हनुमान्जी को सात-सात घोड़ों के पाखाने की धूनि देकर प्रसन्न किया जा रहा है? आपके महावीरजी ने धूप तो अच्छी पसन्द की है! हींग लगे न फटकड़ी रङ्ग भी चोखा हो! आपकी तो मौज हो गई, क्योंकि महावीर की धूपार्थ तथा वराह भगवान् के भोगार्थ तो आपको कौड़ी खर्चने की ज़रूरत ही न पड़ेगी। धन्य हो अन्धी देवी के गंजे पुजारी! जैसे को तैसे मिल गये!

(९९) प्रश्न—बाद में '**ऋजवे त्वा**' इस मन्त्र से पके हुए महावीरों को पकने के स्थान से निकाले। —पृ० १९१, पं० १३

उत्तर—'यजुर्वेद ३७।१०' में न तो महावीर का नाम है, न ही पके हुए महावीरों को निकालने का वर्णन है, अपितु इस मन्त्र में यह वर्णन है कि 'जो लोग विनय और सीधेपन से युक्त प्रयत्न के साथ सर्वोपकाररूप यज्ञ को सिद्ध करते हैं, वे बड़े राज्य को प्राप्त होते हैं'। आपने यहाँ पर फिर शतपथ और कात्यायन को छिपा लिया, जिनमें लिखा है कि उन महावीरों को बकरी के दूध में धोवे। प्रतीत होता है कि उसके लिखने से महावीर प्रजापति हनुमान् की मूर्त्ति का सिद्ध होना असम्भव बन जाता है। धोने से यज्ञ-पात्र ही सिद्ध होते हैं। लीजिए, हम सारा पाठ दे देते हैं—

अथैनानाच्छृणत्ति। अजायै पयसा। —शत० १४।१।२।२५
अजापयसावसिञ्चति मखायेति प्रतिमन्त्रम्। —का० २६।१।२६
अजादुग्धेन त्रीन् महावीरांस्त्रिभिः तुल्यमन्त्रैः सिञ्चतीत्यर्थः। —महीधरभाष्य ३७।१०

भाषार्थ—पके हुए महावीरों को तीन-तीन समान मन्त्रों से तीनों को बकरी के दूध से धोते हैं। महावीरों को धोने के पीछे यज्ञ-पात्रों के यज्ञशाला में रखने का वर्णन शतपथ में आता है और उन यज्ञ-पात्रों में महावीर-पात्र को भी गिना गया है। देखिए—

कुशान्त्सं स्तीर्य द्वन्द्वं पात्राण्युपसादयत्युपयमनीं महावीरं परीशासौ पिन्वने रौहिणकपाले रौहिणहवन्यौ स्रुचौ यदु चान्यद् भवति। —शत० १४।१।३।१

भाषार्थ—कुशाएँ बिछाकर दो-दो पात्र रखता है। उपयमनी, महावीर, परीशा, पिन्वन, रौहिणकपाल, रौहिनहवनी, स्रुच, और भी जो दूसरे पात्र हों।

कहिए श्रीमान्‌जी! अब तो तसल्ली हो गई कि महावीर किसी पौराणिक प्रजापति वा हनुमान्‌की मूर्त्ति नहीं है, अपितु यज्ञ का एक विशेष पात्र है, क्योंकि महावीरों को धोकर यज्ञपात्रों के साथ यज्ञशाला में रक्खा जाना इस बात का प्रबल प्रमाण है।

(१००) प्रश्न—फिर **'यमाय त्वा'** इस मन्त्र से महावीर का तीन बार प्रोक्षण करे।

—पृ० १९१, पं० १४

उत्तर—यहाँ पर 'यजुः० ३७।११' में न तो महावीर का नाम है और न ही उसके तीन बार प्रोक्षण का वर्णन है, अपितु इस मन्त्र में यह वर्णन है कि 'जो लोग यथार्थ व्यवहार से प्रकाशित कीर्तिवाले होते हैं, वे दुःख के स्पर्श से अलग होकर तेजस्वी होते हैं और दुष्टों को दुःख देकर श्रेष्ठों को सुखी करते हैं।' हाँ, शतपथ तथा कात्यायन में महावीरों को प्रोक्षण करके अर्थात् पोंछकर उनमें घी भरना लिखा है। आपने प्रोक्षण तो लिख दिया किन्तु घी चुरा गये, क्योंकि घी भरने से स्पष्ट सिद्ध है कि महावीर यज्ञपात्र है, हनुमान्‌जी की मूर्त्ति नहीं हैं, क्योंकि मूर्त्ति में घी नहीं भरा जाता, अपितु पात्रों में भरा जाता है।

लीजिए, हम पूरा पाठ यहाँ पर दर्ज करत देते हैं—

तदेतं प्रचरणीयं महावीरमाज्येन समनक्ति देवस्त्वा सविता मध्वानक्त्विति।

—शत० १४।१।३।१३

तेषु महावीरमाज्यवन्तमर्चिरसीति। —२६।३।४

तेषु मुञ्जेषु संस्कृताज्यपूर्णं प्रचरणीयं महावीरं निदधातीति सूत्रार्थः। —३७।११

भाषार्थ—उन कुशाओं पर शुद्ध घी से भरा हुआ महावीर धरता है, यह सूत्र का अर्थ है। अब तो आपको महावीर के यज्ञपात्र होने में सन्देह न रहा होगा!

(१०१) प्रश्न—फिर **'अनाधृष्टा'** [यजुः० ३७।१२] इस मन्त्र से महावीर के ऊपर अंगूठा और अंगुली रखकर महावीर की स्तुति करे। —पृ० १९१, पं० १४

उत्तर—यहाँ पर मन्त्र में न तो महावीर का नाम है और न ही उसपर अंगुली और अंगूठा रखकर उसकी स्तुति करने का वर्णन है, अपितु मन्त्र में यह वर्णन है कि 'हे मनुष्यो! जैसे अग्नि जीवन को, जैसे बिजली प्रजा को, जैसे सूर्य दृष्टि को धारण करता है, ईश्वर लक्ष्मी और शोभा को और महाशयजन बल को देता है, वैसे ही सुलक्षणी पत्नी सब सुखों को देती है, उसकी तुम रक्षा किया करो।'

श्रीमान्‌जी! यह अंगुली और अंगूठा महावीर पर रखकर स्तुति करने का क्या तरीका है? और यह अंगुली और अंगूठा महावीर के कौन-से अंगों पर रक्खे जाते हैं? क्या यही तरीका अंगुली और अंगूठा रखने का शिव, विष्णु, गणेश आदि की मूर्त्तियों के साथ भी बरता जाता है या यह विशेषता महावीर के साथ ही है? फिर यह स्तुति करना किन पदों का अर्थ है और आपने कहाँ से यह अभिप्राय लिया है? या घर से ही घड़कर डाल दिया ताकि महावीर के साथ स्तुति शब्द मिला दिया तो मूर्त्तिपूजा सिद्ध हो जावेगी? देखिए, कात्यायनसूत्र का अर्थ करते हुए महीधर लिखते हैं कि **'महावीरोपर्यंगुष्ठांगुलिदेशं धरन्तं यजमानमध्वर्युर्मन्त्रान् वाचयतीति सूत्रार्थः'** महावीर के ऊपर अंगूठा और अंगुली धरनेवाले यजमान को अध्वर्युमन्त्र बुलवाता है, यह सूत्र का अर्थ है। इससे स्पष्ट सिद्ध है कि महावीर की स्तुति करना कहीं भी नहीं लिखा है। यह आपने मूर्त्तिपूजा की सिद्धि के लोभ में घर से ही मिला दिया है। यह है आपकी ईमानदारी का नमूना!

(१०२) प्रश्न—इस प्रकार इस प्रकरण में महावीर की परिक्रमा आदि पूजन की सब क्रियाएँ लिखी हैं।
—पृ० १९१, पं० १६

उत्तर—इससे इस प्रकरण में कहीं भी यह सिद्ध नहीं हो सकता कि महावीर नामक प्रजापित की मूर्त्ति बनाई जावे, या उसकी स्तुति-प्रार्थना-परिक्रमा आदि पूजा की जावे, अपितु बनाने, पकाने, घिसाने, गढ़ेवाली शक्ल बनाने, घी भरने, पात्रों में गिनती होने तथा मूर्त्ति शब्द कहीं भी न होने से यह सिद्ध होता है कि महावीर नामक घृत रखने का एक यज्ञपात्र है, जिसकी शतपथ तथा कात्यायन ने स्वयमेव कल्पना की है, वेद में इसका नाममात्र भी नहीं है। यह कल्पना वेद के विरुद्ध होने से प्रमाण नहीं मानी जा सकती। इस कल्पना में सृष्टिक्रम के विरुद्ध अश्लीलता भी है। हम नमूने के तौर से एक दिखा देते हैं, देखिए—

शतपथ—**अथ पत्न्यै शिरोऽपावृत्य। महावीरमीक्षमाणां वाचयति त्वष्ट्रमन्तस्त्वा सपेमेति वृषा वै प्रवर्ग्यो योषा पत्नी मिथुनमेवैतत्प्रजननं क्रियते।** —शत० १४।४।१६

कात्यायन—**त्वष्ट्रमन्त इत्येनां वादयति।** —का० २६।४।१३

महीधर—**महावीरमीक्षमाणामपनीतशिरोवस्त्रां घर्मं पश्यन्तीं पत्नीमध्वर्युर्वाचयति... मैथुनाय त्वामुपस्पृशामः।**

भाषार्थ—महावीर को देखती हुई, शिर से कपड़ा उतारनेवाले गरमी को अनुभव करती हुई यजमानपत्नी को अध्वर्यु बुलाता है कि हम तुझको मैथुन के लिए स्पर्श करते हैं।

कृपया इसपर प्रकाश डालें कि इस महावीर के प्रकरण में कौन किसको मैथुन के लिए स्पर्श करता है।

(१०३) प्रश्न—इसको देखकर सन्देह हुआ कि महावीर ईश्वर नहीं है, हमारी बनाई एक मूर्त्ति है। इस सन्देह को दूर करने के लिए शतपथ ने **'उभयं वा एतत्प्रजापतिः'** इस लेख द्वारा परमेश्वर को निराकार तथा साकार दो रूपवाला बतलाकर सन्देह दूर कर दिया।
—पृ० १९१, पं० २७

उत्तर—न तो यह किसी को सन्देह ही हो सकता है कि 'महावीर ईश्वर नहीं, हमारी बनाई मूर्त्ति है'—क्योंकि यह निश्चय है कि महावीर एक यज्ञपात्र है और इस प्रकरण में कोई ऐसा शब्द नहीं है कि सन्देह हो सके, न ही इस सन्देह को दूर करने के लिए शतपथ ने **'उभयं वा'** कहा है और न ही **'उभयं वा'** ईश्वर के दो रूप वर्णन करता है; वह तो यज्ञ की दो सूक्ष्म और स्थूल अवस्थाओं का वर्णन करता है। यहाँ पर 'प्रजापति' नाम यज्ञ का है और **'उभयं वा'** से पहले **'प्रजापतिर्वा एष यज्ञो भवति'** पाठ मौजूद है, जिसको आपने चुराकर अपनी ईमानदारी का सबूत दिया है (विशेष देखें नं० ४)। हम इस महावीर के प्रकरण को समाप्त करने से पूर्व एक प्रमाण आपको और देते हैं कि महावीर यज्ञपात्र का नाम है अथवा प्रजापति का, न कि हनुमान् की मूर्त्ति का—

प्रश्न—तदाहुः। यद्वानस्पत्यैर्देवेभ्यो जुह्वत्यथ कस्मादेतं मृन्मयेनैव जुहोतीति तन्मृदश्मापां च महावीराः कृता भवन्ति। —शत० १४।२।२।५३

भाषार्थ—महावीर संज्ञक यज्ञपात्र मिट्टी के क्यों बनावे? काठ के पात्रों से देवताओं के लिए हवन किया करते हैं। सो वे भी काष्ठ के क्यों न बनाये जावें, ऐसा प्रश्न करते हैं।

उत्तर—स यद्वानस्पत्यः स्यात्प्रदह्येत। यद्धिरण्मयः स्यात्प्रलीयेत। यल्लोहमयः स्यात्प्रसिच्येत। यदयस्मयः स्यात् प्रदहेत्। परीशासावथैष एवैतस्मा अतिष्ठत। तस्मादेतं मृण्मयेनैव जुहोति।
—शत० १४।२।२।५४

भाषार्थ—वह यदि काष्ठ का हो तो जल जावे, स्वर्ण का गल जावे, अयोमय फुँकने लगे, लोहे का चू जावे, इसलिए यही ठीक है कि मिट्टी का हो, उससे होम करे।

इस प्रश्नोत्तर से स्पष्टतर हो गया कि महावीर यज्ञपात्र का नाम है, हनुमान् की मूर्त्ति का नहीं।

सारांश

(क) वेद में न महावीर का नाम है, न उसके बनाने आदि का वर्णन है।

(ख) यह कल्पना शतपथ तथा कात्यायन ने स्वयं करके वेद के सिर मढ़ने का यत्न किया है, जोकि वेदविरुद्ध होने से प्रमाण के योग्य नहीं है।

(ग) शतपथ तथा कात्यायन में भी महावीर नाम यज्ञ के विशेष घृत-पात्र का है, हनुमानादि की मूर्त्ति का नाम नहीं है।

(घ) इसको मूर्त्तिपूजा की सिद्धि में पेश करना उन्मादमात्र है।

(ङ) इस प्रकरण में अश्लीलता होने से सबके लिए त्याज्य है।

(१०४) प्रश्न—जैसे माता-पिता का पूजन पञ्चतत्त्वात्मक शरीर के द्वारा होता है, उसी प्रकार ईश्वर का पूजन भी उसके शरीर—पञ्चतत्त्वों के द्वारा होता है, अतएव यह शरीर परिच्छिन्न पूज्य है और सृष्टि के बाहर जो ब्रह्मरूप है, वह अविज्ञेय, अनिर्वचनीय है। —पृ० १९२, पं० १

उत्तर—वह परमात्मा सृष्टि के अन्दर तथा बाहर सर्वत्र व्यापक है। वह एकरस है। वह अनिर्वचनीय नहीं है, अपितु वेद उसका **'स पर्यगात्'**, **'ईशा वास्यम्'**, **'न तस्य प्रतिमा अस्ति'** इत्यादि अनेक मन्त्रों से वर्णन करते हैं। वह अविज्ञेय नहीं है अपितु बाह्य स्थूल इन्द्रियों से अविज्ञेय है; आत्मा के द्वारा परमात्मा का ज्ञान होता है। **'भोगायतनं शरीरम्'** अच्छे और बुरे कर्मों के फल भोगने के ठिकाने को शरीर कहते हैं। हमारे माता-पिता जीव हैं। उन्होंने अपने पिछले कर्मों के फल भोगने के लिए परमात्मा की व्यवस्था से यह शरीर प्राप्त किया है। उनको शरीर के द्वारा सुख तथा दुःख दोनों का अनुभव होता है, अतः वे हमारी पूजा से सुख तथा अपमान से दुःख महसूस करते हैं। माता-पिता के शरीर की भाँति ईश्वर का शरीर नहीं है। परमात्मा न पापकर्म करता है न उसको उन कर्मों का फल भोगने के लिए शरीर धारण करना पड़ता है। पाँच तत्त्व उसका वास्तविक शरीर नहीं है, अपितु लाक्षणिक रूप से पाँचों तत्त्वों को परमात्मा का शरीर कहा गया है। परमात्मा उनके द्वारा सुख-दुःख महसूस नहीं करता। यदि आप पाँचों तत्त्वों को परमात्मा का वास्तविक शरीर मानकर माता-पिता की भाँति पाँच तत्त्व की पूजा से परमात्मा की प्रसन्नता मानेंगे, तो ज़मीन खोदने से, लकड़ी फाड़ने से, पत्थर तोड़ने से, रोटी खाने आदि से परमात्मा को दुःख और कष्ट होना भी मानना पड़ेगा, अतः पाँच तत्त्व न उसका वास्तविक शरीर है और न ही उनकी पूजा से परमात्मा की पूजा होती है। अपने आत्मा में परमात्मा का अनुभव करना ही परमात्मा की पूजा है। अच्छा भला! यह तो बतलाएँ कि यदि पाँच तत्त्वों की पूजा ही परमात्मा की पूजा है, तो आप विशेष मूर्त्ति-निर्माण, प्राणप्रतिष्ठा आदि पचासों ढोंग क्यों रचते हैं? प्रत्येक ईंट, पत्थर, ढेले के द्वारा पूजा हो सकती है, फिर मूर्त्ति में विशेषता क्या है? और जब हमारा शरीर भी पाँच तत्त्वों का बना हुआ है तो फिर हम अपने शरीर द्वारा ही परमात्मा का पूजन क्यों न करें, इधर-उधर मन्दिरों में क्यों धक्के खाते फिरें? अस्तु, पाखण्ड की बातों को छोड़ो और अपने आत्मा के द्वारा परमात्मा की पूजा करो। यही वेद का सिद्धान्त है।

असलियत

(१०५) प्रश्न—इनका कहना है कि वेद मूर्त्तिपूजन का स्वतः ही निषेध करता है।
—पृ० १९२, पं० ८

उत्तर—इसमें क्या सन्देह है! वेद ने परमेश्वर के स्थान में किसी अन्य पदार्थ को पूजनीय नहीं माना वरन् सर्वथा निषेध किया है। यह निषेध इस प्रकार है—

अन्धन्तमः प्रविशन्ति येऽसंभूतिमुपासते।
ततो भूय इव ते तमो य उ संभूत्याᳬरताः॥ १॥ —यजुः० ४०।९
न तस्य प्रतिमा अस्ति॥ २॥ —यजुः० ३२।३
यद्वाचानभ्युदितं येन वागभ्युद्यते। तदेव ब्रह्म त्वं विद्धि नेदं यदिदमुपासते॥ १॥
—केनोपनिषत्

जो असम्भूति अर्थात् अनुत्पन्न अनादि प्रकृतिकारण की ब्रह्म के स्थान में उपासना करते हैं वे अन्धकार, अर्थात् अज्ञान और दुःख-सागर में डूबते हैं और सम्भूति जो कारण से उत्पन्न हुए कार्यरूप पृथिवी आदि भूत, पाषाण और वृक्षादि अवयव और मनुष्यादि के शरीर की उपासना ब्रह्म के स्थान में करते हैं वे महामूर्ख उस अन्धकार से भी अधिक अन्धकार, अर्थात् चिरकाल तक घोर दुःखरूप नरक में गिरके महाक्लेश भोगते हैं॥ १॥

जो सब जगत् में व्यापक है उस निराकार परमात्मा की प्रतिमा, परिमाण, सादृश्य वा मूर्त्ति नहीं है॥ २॥

जो वाणी की इयत्ता, अर्थात् यह जल है लीजिए, वैसा विषय नहीं और जिसके धारण और सत्ता से वाणी की प्रवृत्ति होती है, उसी को ब्रह्म जान और उसी की उपासना कर; जो उससे भिन्न है, वह उपासनीय नहीं है॥ १॥ इत्यादि अनेक प्रमाण हैं।

प्रकरण-विच्छेद

(१०६) प्रश्न—यहाँ पर वेद प्रकरण बाँधकर ईश्वर का ज्ञान करा रहा है, किन्तु इन लोगों के इस अनोखे अर्थ से प्रकरण का मतलब ही लुप्त हो जाता है। —पृ० १९३, पं० ८

उत्तर—यह आपको भ्रम है कि स्वामीजी का अर्थ प्रकरण के विरुद्ध है; स्वामीजी का अर्थ प्रकरण के सर्वथा अनुकूल है। जैसे—

तदेवाग्निस्तदादित्यस्तद्वायुस्तदु चन्द्रमाः। तदेव शुक्रं तद् ब्रह्म ता आपः स प्रजापतिः॥ १॥
सर्वे निमेषा जज्ञिरे विद्युतः पुरुषादधि। नैनमूर्ध्वं न तिर्यञ्चं न मध्ये परि जग्रभत्॥ २॥
—यजुः० अ० ३२

भाषार्थ—हे मनुष्यो! वह परमात्मा ही ज्ञानस्वरूप और स्वयं प्रकाशित होने से अग्नि, वह प्रलय-समय सबको ग्रहण करने से आदित्य, वह अनन्त बलवान् और सबका धर्त्ता होने से वायु, वह अनन्तस्वरूप और आनन्दकारक होने से चन्द्रमा, वही शीघ्रकारी वा शुद्धभाव से शुक्र, वह महान् होने से ब्रह्म, वह सर्वत्र व्यापक होने से आपः, और वह सब प्रजा का स्वामी होने से प्रजापति नामवाला है, ऐसा तुम लोग जानो॥ १॥

हे मनुष्यो! जिस विशेषकर प्रकाशमान् पूर्ण परमात्मा से सब निमेष, कला, काष्ठा आदि काल के अवयव उत्पन्न होते हैं, उस परमात्मा को कोई भी न ऊपर, न तिरछा, न सब दिशाओं में वा नीचे और न बीच में सब ओर से ग्रहण कर सकता है, उसको सेवो॥ २॥

इनसे आगे विवादास्पद मन्त्र '**न तस्य प्रतिमा अस्ति**' है, फिर इसका अर्थ प्रकरण के विरुद्ध कैसे है?

(१०७) प्रश्न—पुरुषसूक्त के अन्त में '**श्रीश्च ते**' इस मन्त्र में श्री और लक्ष्मी ईश्वर की स्त्रियाँ बतलाई हैं। —पृ० १९३, पं० २०

उत्तर—धन्य है आपकी बुद्धि को! वेदमन्त्रों के अर्थ भी आप खूब समझते हैं! आपने इस

मन्त्र से यह समझा कि ईश्वर के भी वैसे ही दो स्त्रियाँ हैं जैसे कृष्ण के तीस करोड़, और ईश्वर भी उन दोनों से वैसे ही लीला करता है जैसे कृष्ण तीस करोड़ गोपियों से, (देखो नं० ६१)। यदि आपने ऐसा ही समझा है तो यह आपकी महाभूल है। इससे परमात्मा का साकार या मूर्त्तिमान् सिद्ध होना असम्भव है, क्योंकि यहाँ पर उपमा अलंकार है। जैसे—

वेद—**'श्रीश्च ते लक्ष्मीश्च पत्न्यौ।'** —यजुः० ३१।२२

स्वामी दयानन्द—हे जगदीश्वर! आपकी समग्र शोभा और सब ऐश्वर्य भी दो स्त्रियों के तुल्य वर्त्तमान है।

महीधर—श्रीः लक्ष्मीश्च ते तव पत्न्यौ। जायास्थानीये त्वद्वश्ये इत्यर्थः। यया सर्वजनाश्रयणीयो भवति सा श्रीः श्रीयतेऽनया श्रीः सम्पदित्यर्थः। यया लक्ष्यते दृश्यते जनैः सा लक्ष्मीः। सौन्दर्यमित्यर्थः।

भाषार्थ—श्री और लक्ष्मी आपकी पत्नियाँ हैं, अर्थात् पत्नी के स्थान में आपके वश में हैं। जिससे सब जनता आश्रय लेनेवाली होती है वह श्री सम्पत्ति है। जिससे लोगों से देखा जाता है वह लक्ष्मी, सौन्दर्य है।

कहिए महाराज! यह तो आपके भाष्यकार महीधरजी भी स्वामी दयानन्दजी का अनुमोदन कर रहे हैं। हमारा क्या क़ुसूर है? आपके भाष्यकार ने ही आपके सारे मनसूबे ख़ाक में मिला दिये। **'इस घर को आग लग गई घर के चिराग़ से।'**

(१०८) प्रश्न—अब **'तदेवाग्निः'** इस मन्त्र से ईश्वर के व्यापकत्व और सर्वस्वरूपत्व से यह दिखलाया है कि अग्नि आदि जितनी साकार मूर्त्तियाँ हैं, वे सब ब्रह्म की मूर्त्तियाँ हैं। —पृ० १९३, पं० २१

उत्तर—इस मन्त्र में यह बतलाया गया है कि ईश्वर के गुण-कर्म-स्वभाव अनेक होने से उसके अनेक नाम हैं (देखो नं० १९)। व्याप्य के साकार होने से व्यापक साकार नहीं हो सकता (देखो नं० ६ से ९)। **'द्वा सुपर्णा'** इत्यादि अनेक मन्त्र संसार के उपादानकारण प्रकृति को नित्य वर्णन कर रहे हैं, अतः अग्नि आदि जितनी साकार मूर्त्तियाँ हैं वे प्रकृति की हैं, ब्रह्म की नहीं हैं, क्योंकि निराकार परमात्मा संसार का निमित्तकारण है, प्रकृति उपादानकारण है (देखो नं० १० से २३)।

(१०९) प्रश्न—**'सर्वे निमेषा'** इस मन्त्र में यह दिखलाया है कि कालविभाग और बिजलियाँ जो पैदा हुई हैं वे सब ब्रह्म से पैदा हुई हैं, अर्थात् ब्रह्म सब जगत् का **'अभिन्ननिमित्तोपादानकारण'** है। —पृ० १९३, पं० २३

उत्तर—ब्रह्म जगत् का **'अभिन्ननिमित्तोपादानकारण'** नहीं है, अपितु नित्य प्रकृति उपादानकारण तथा ब्रह्म निमित्तकारण है, अतः उस निमित्तकारण परमात्मा ने जब नित्य प्रकृति उपादानकारण से जगत् को बनाया तो समय की गणना आरम्भ हुई, क्योंकि नित्य पदार्थों में काल का उपयोग नहीं होता, अपितु कार्यरूप अनित्य पदार्थों से काल का सम्बन्ध है। इस मन्त्र ने जहाँ निमित्तकारण परमात्मा से संसार की उत्पत्ति बतलाई है, वहाँ परमात्मा को सूक्ष्म और निराकार भी वर्णन किया है।

(११०) प्रश्न—अब **'न तस्य'** इस मन्त्र में यह कहना है कि ब्रह्म के तुल्य महत्त्व रखनेवाली कोई वस्तु संसार में नहीं। —पृ० १९३, पं० २५

उत्तर—प्रतिमा शब्द का अर्थ महत्त्व होता ही नहीं, अपितु प्रतिमा शब्द का अर्थ **'नाप का साधन'**, **'परिमाण'**, **'सादृश्य'**, **'प्रतिबिम्ब'** तथा **'मूर्त्ति'** होता है। आपने महत्त्व अपनी ओर से ही कल्पना किया है। देखिए, इसपर उव्वट क्या लिखते हैं—

'न तस्य पुरुषस्य प्रतिमा प्रतिमानभूतं किंचिद्विद्यते।'

भाषार्थ—उस पुरुष परमात्मा की प्रतिमा अर्थात् प्रतिनिधि, सादृश्य, माप आदि कोई वस्तु नहीं है, अतः प्रतिमा का 'महत्त्व' अर्थ सर्वथा निर्मूल है।

श्रीमान्जी! भला! यह तो बतलाने की कृपा करें कि जब ब्रह्म के सदृश महत्त्व रखनेवाली कोई वस्तु संसार में नहीं तो फिर ये मूर्त्तियाँ उसके सदृश महत्त्व रखनेवाली कैसे हो सकती हैं? परमात्मा के स्थान में उनकी पूजा व्यर्थ ही है।

(१११) प्रश्न—इस मन्त्र में प्रतिमा शब्द का अर्थ मूर्त्ति होता ही नहीं। प्रतिमा का अर्थ तुल्य होता है। —पृ० १९४, पं० १४

उत्तर—जब आप अपनी पुस्तक के पृ० १८८, पं० ७ में यह लिखते हुए कि 'यज्ञ में महावीर नामक प्रजापति की प्रतिमा बनती हैं' स्वयं प्रतिमा शब्द का अर्थ मूर्त्ति कर रहे हैं तो फिर यहाँ प्रतिमाएँ शब्द का अर्थ मूर्त्ति क्यों नहीं होता, इसमें क्या हेतु है? यदि प्रतिमा का अर्थ केवल तुल्य ही है, तो फिर इसका यह अर्थ होगा कि परमात्मा के तुल्य कोई नहीं। जब परमात्मा के तुल्य किसी बात में भी कोई नहीं, तो पता लगा कि ये मूर्त्तियाँ किसी बात में भी परमात्मा के तुल्य नहीं हैं। जब मूर्त्तियाँ किसी बात में भी परमात्मा के तुल्य नहीं हैं तो फिर परमात्मा के स्थान में इनको प्रतिनिधि बनाकर इनकी पूजा करना व्यर्थ हो गया।

(११२) प्रश्न—उव्वट, महीधर, शंकर, गिरिधरमिश्र सबने प्रतिमा शब्द के 'तुल्य' अर्थ किये हैं। —पृ० १९४, पं० १७

उत्तर—आप असत्य लिख रहे हैं। इस समय दो भाष्य तो हमारे सामने मौजूद हैं। दोनों ने ही सदृश अर्थ नहीं किया। जैसे—

उव्वट—**न तस्य पुरुषस्य प्रतिमा प्रतिमानभूतं किंचिद्वद्यते।**

महीधर—**तस्य पुरुषस्य प्रतिमानमुपमानं किंचद्वस्तु नास्ति।**

अमरकोश—**प्रतिमानं प्रतिबिम्बं प्रतिमा प्रतियातना प्रतिच्छाया।**
प्रतिकृतिरर्चा पुंसि प्रतिनिधिरुपमोपमानं स्यात्। —अ० २।१०।३५-३६

स्वामी दयानन्द—**न निषेधे तस्य परमेश्वरस्य प्रतिमा प्रतिमीयते यया तत्परिमापकं सदृशं तौलनसाधनं प्रतिकृतिराकृतिर्वा अस्ति वर्तते।** —वेदभाष्य

भाषार्थ—उस परमात्मा की प्रतिमानभूत कोई वस्तु नहीं है। —उव्वट

उस परमात्मा की प्रतिमा, प्रतिमान, उपमान कोई वस्तु नहीं है। —महीधर

प्रतिमान, प्रतिबिम्ब, प्रतिमा, प्रतियातना, प्रतिच्छाया, प्रतिकृति, अर्चा, प्रतिनिधि—ये आठ नाम प्रतिमा के हैं। —अमरकोश

उस परमेश्वर की प्रतिमा, माप, सादृश्य, तोलसाधन, प्रतिकृति, आकृति नहीं है। —दयानन्द

अब फ़रमाइए, स्वामीजी ने कौन-सा नया अर्थ किया है जो आपके आचार्यों ने नहीं किया? उव्वट, महीधर ने प्रतिमान, उपमान दो अर्थ किये हैं और अमरकोश ने प्रतिबिम्ब तथा प्रतिच्छाया, प्रतिकृति, प्रतिनिधि शब्दों को प्रतिमान शब्द का पर्य्याय बतलाया है। भाषा में इन शब्दों का अर्थ मूर्त्ति, तस्वीर, फोटो के सिवाय और क्या हो सकता है? अतः सिद्ध हुआ कि स्वामीजी ने वही अर्थ किया है जो सनातनधर्म के आचार्य उव्वट, महीधर आदि करते हैं। जैस इन दोनों का अर्थ है, वैस ही सबका समझ लेना चाहिए।

(११३) प्रश्न—यजुर्वेद के '**सहस्त्रस्य**' [१५।६५] में जब '**प्रतिमासि**' आया और इनको मालूम हुआ कि यहाँ पर मूर्त्ति अर्थ हो जाने से मूर्त्तिपूजा सिद्ध हो जावेगी, तब घबराये। —पृ० १९५, पं० १

उत्तर—श्रीमान्‌जी! इसमें घबराने की कौन-सी बात है। प्रतिमा शब्द के आठ अर्थ है (नं० ११२)। उनमें से जो अर्थ जहाँ लेना उचित हो वहाँ वही लेना बुद्धिमत्ता है। इस मन्त्र में प्रतिमा के अर्थ मूर्त्ति करने से मूर्त्तिपूजा सिद्ध नहीं हो सकती, क्योंकि इस मन्त्र का देवता अर्थात् प्रतिपाद्यविषय ईश्वर नहीं है अपितु 'विद्वान्' है। चूँकि यहाँ पर प्रतिमा के अर्थ मूर्त्ति संगत नहीं हो सकते थे, इस कारण यहाँ मूर्त्ति अर्थ करना उचित ही न था। मन्त्र तथा अर्थ दोनों को ध्यानपूर्वक पढ़ने की कृपा करें—

सहस्रस्य प्रमासि सहस्रस्य प्रतिमासि सहस्रस्योन्मासि साहस्रोऽसि सहस्राय त्वा।

—यजुः० १५।६५

भाषार्थ—हे विद्वान् पुरुष विदुषी स्त्री वा! जिस कारण तू असंख्यात पदार्थों से युक्त जगत् के (**प्रमा**) प्रमाण, यथार्थ ज्ञान के तुल्य है, असंख्य विशेष पदार्थों के (**प्रतिमा**) तोलसाधन के तुल्य है, असंख्य स्थूल वस्तुओं के (**उन्मा**) तोलने की तुला के समान है, असंख्य पदार्थों और विद्याओं से युक्त है, इस कारण असंख्यात प्रयोजनों के लिए तुझको परमात्मा व्यवहार में स्थित करे॥ ६५॥

अब इस प्रकरण में मूर्त्ति अर्थ करके स्वयं देख लें, संगत ही न हो सकेगा। इसीलिए तो सनातनधर्म के आचार्य भी इस मन्त्र को मूर्त्तिपूजा में न लगाकर यज्ञ की अग्नि में लगाते हैं। देखिए—

हे अग्ने सहस्रस्येष्टकानां प्रमा प्रमाणं त्वमसि। सहस्रस्य प्रतिमा प्रतिनिधिरसि। सहस्रस्योन्मोन्मानं तुलासि। साहस्रः सहस्रार्होऽसि। सहस्रायानन्तफलाप्त्यै त्वा त्वां प्रोक्षामि।

—महीधर

भाषार्थ—हे अग्नि! तू सहस्र ईंटों का अन्दाज़ा है। तू सहस्र का प्रतिनिधि है। तू सहस्र की तकड़ी है। तू सहस्र के योग्य है। अनन्द फलप्राप्ति के लिए मैं तेरा प्रोक्षण करता हूँ।

जब आपके आचार्यों ने ही इस मन्त्र में प्रतिमा के अर्थ मूर्त्ति नहीं किये तो स्वामीजी को उलाहना देना पागलपन नहीं तो क्या है?

(११४) प्रश्न—स्वामी दयानन्दजी ने भी ऋग्वेदादिभाष्यभूमिका के '**मासि प्रमासि प्रतिमासि**' के भाष्य में लिख दिया कि '**वेदेषु प्रतिमा शब्देन मूर्त्तयो न गृह्यन्ते**' वेदों में प्रतिमा शब्द से मूर्त्ति का ग्रहण नहीं होता। फिर '**न तस्य प्रतिमा अस्ति**' इस मन्त्र में प्रतिमा से मूर्त्ति का ग्रहण कैसे हो जावेगा? —पृ० १९५, पं० ३

उत्तर—आपने उत्सर्गापवाद के न्याय को भुला दिया है, वरना आपको यह शंका ही न होती। जब स्वामीजी इसी प्रकरण में '**न तस्य प्रतिमा**' इस मन्त्र में प्रतिमा शब्द का अर्थ मूर्त्ति करते हैं और फिर आगे चलकर थोड़ी दूर पर ही यह कहते हैं कि वेदों में प्रतिमा शब्द का अर्थ मूर्त्ति नहीं लिया जाता तो उत्सर्गापवादन्याय से इसका स्पष्ट अभिप्राय यह है कि '**न तस्य**' इस मन्त्र के सिवाय और स्थानों में जहाँ-जहाँ प्रतिमा शब्द आता है, वहाँ मूर्त्ति के अर्थों में नहीं आता, अपितु परिमाण अर्थों में आता है और इसके लिए उन्होंने अथर्ववेद का प्रमाण भी उपस्थित कर दिया है, जिसमें प्रतिमा शब्द के मूर्त्ति अर्थ संगति नहीं खाते, अपितु परिमाण अर्थ ही संगति खाते हैं, अतः स्वामीजी के लेख में परस्पर विरोध नहीं है, अपितु उत्सर्गापवादन्याय से दोनों ही लेख ठीक और युक्तियुक्त हैं।

(११५) प्रश्न—सत्यार्थप्रकाश में उसी मन्त्र के अर्थ में यह लिखा है कि 'जो जगत् में व्यापक है' यह अर्थ वेदमन्त्र के किसी भी पद का हो नहीं सकता। —पृ० १९५, पं० ७

उत्तर—लीजिए,हम आपको बतलाते हैं कि यह अर्थ मन्त्र के कौन-से पद का है। इस मन्त्र

में जो '**तस्य**' शब्द है यह पूर्व में पड़े हुए '**पुरुषादधि**' पुरुष शब्द की ओर संकेत कर रहा है। इसी लिए उव्वट और महीधर दोनों ने '**तस्य पुरुषस्य**' ऐसा अर्थ किया है (देखो नं० ११२)। अब पुरुष शब्द के अर्थ देख लीजिए क्या हैं? निरुक्त में पुरुष शब्द के अर्थ इस प्रकार हैं—

निरुक्त—**पुरुषः पुरिषादः पुरिशयः पूरयतेर्वा।**

दुर्गाचार्य्य—'**पूरयतेर्वा' पूर्णमनेन पुरुषेण सर्वगतत्त्वात् जगदिति पुरुषः।**

—निरु० अ० २ खं० ३।१

भाषार्थ—चूँकि परमात्मा व्यापक होने से सारे जगत् में पूर्ण हो रहा है, इसलिए परमात्मा को पुरुष कहते हैं।

कहिएगा, अब तो आपको पता लग गया कि स्वामीजी ने 'जो जगत् में व्यापक है' यह कौन-से पद का अर्थ किया है।

(११६) प्रश्न—फिर इसमें लिखा है कि 'उस निराकार परमात्मा की', '**न तस्य**' इस मन्त्र में 'निराकार' इस इतने अर्थ को कहनेवाला कोई पद नहीं। —पृ० १९५, पं० १६

उत्तर—श्रीमान्जी! हम आपको यह भी अवश्य बतलावेंगे कि निराकार किस पद का अर्थ है। यह तो आपको (नं० ११५ से) पता लग गया कि '**तस्य**' पद का अर्थ '**पुरुषस्य**' है। अब वह पुरुष कैसा है यह भी इससे पूर्वमन्त्र में ही देखिए। हम '**सर्वे निमेषा**' इस पूर्वमन्त्र का अर्थ (नं० १०६ में) कर आये हैं, जिसमें लिखा है कि उस परमेश्वर को कोई ऊपर, तिरछा, सब दिशाओं में वा नीचे तथा बीच में सब ओर से ग्रहण नहीं कर सकता। इससे साफ़ सिद्ध है कि वह निरवयव, निराकार है। बस '**तस्य**' पद के इशारे से पुरुष शब्द का ग्रहण होता है और पुरुष शब्द के ग्रहण से व्यापक तथा निराकार ये दोनों अर्थ स्वयं इस मन्त्र में आ जाते हैं। इस पूर्वमन्त्र का महीधर का अर्थ भी परमात्मा को निराकार ही वर्णन करता है। देखिए—

सर्वे निमेषाः त्रुटिकाष्ठाघट्यादयः कालविशेषाः पुरुषात् अधि पुरुषसकाशाज्जज्ञिरे। कीदृशात्पुरुषात्। विद्युतः विशेषेण द्योतते विद्युत् तस्मात्। किञ्च कश्चिदपि एनं पुरुषमूर्ध्वमुपरि भागेन न परिजग्रभत् परिगृह्णाति। एनं तिर्यञ्चं चतुर्दिक्षु न परिगृह्णाति। मध्ये मध्यदेशेऽपि न गृह्णाति। न ह्यसौ प्रत्यक्षादीनां विषय इत्यर्थः।

भाषार्थ—सब निमेष, काष्ठा, घड़ी आदि कालविशेष पुरुष से पैदा हुए हैं। कैसे पुरुष से? विशेष प्रकाशमान् पुरुष से और कोई भी इस पुरुष को ऊपर से नहीं पकड़ सकता। इसको चारों ही दिशाओं में नहीं पकड़ सकता। बीच में से भी नहीं पकड़ सकता। 'वह प्रत्यक्ष आदि का विषय ही नहीं है।'

आशा है अब आपको यह भी समझ में आ गया होगा कि यह निराकार अर्थ किस पद का है?

(११७) प्रश्न—इस मन्त्र के अर्थ में '**प्रतिमा**' शब्द के तीन अर्थ किये गये—परिमाण, सादृश्य, और मूर्त्ति। परिमाण ईश्वर का नहीं, इसमें ईश्वर की उत्कर्षता है और सादृश्य में भी उत्कर्षता है। ये दोनों अर्थ ठीक हैं, क्योंकि इनमें प्रमाण मिलते हैं, किन्तु मूर्त्ति अर्थ में कोई प्रमाण नहीं। —पृ० १९५, पं० २१

उत्तर—परमात्मा की उत्कर्षता को वर्णन करनेवाले '**अतो ज्यायाँश्च पूरुषः**' इत्यादि अनेक मन्त्र वेदों में भरे पड़े हैं। इस मन्त्र में परमात्मा को परिमाणरहित बतलाने का प्रयोजन परमात्मा की उत्कर्षता वर्णन करना नहीं, अपितु परमात्मा को अनन्त, व्यापक वर्णन करना है, और सादृश्यरहित बतलाने का प्रयोजन भी उत्कर्षता वर्णन नहीं है, अपितु यह बतलाना अभीष्ट है कि परमात्मा अनुपम है और संसार का कोई भी पदार्थ किसी अंश में भी परमात्मा के सदृश नहीं

है। इन दोनों अर्थों के ठीक मानने से भी ईश्वर की मूर्त्ति बनाना मिथ्या सिद्ध हो जाता है। जो परमात्मा अनन्त और व्यापक है उसकी मूर्त्ति बन ही नहीं सकती, क्योंकि मूर्त्ति जो भी होगी वह सीमित और एकदेशी ही होगी, और जब संसार की कोई वस्तु किसी भी अंश में परमात्मा के सदृश नहीं है तो फिर मूर्त्ति परमात्मा के सदृश कैसे हो सकती है? रह गया यह प्रश्न कि प्रतिमा का अर्थ मूर्त्ति करने में कोई प्रमाण है वा नहीं तो हमने नं० ११२ में विस्तारपूर्वक वर्णन कर दिया है; देखने की कृपा करें।

हेतुवाद

(११८) प्रश्न—**'न तस्य'** इस मन्त्र में हेतु भी है। मन्त्र का सीधा-सादा अर्थ यह है कि जो महत् यशवाला ईश्वर है, उसके तुल्य कोई पदार्थ नहीं। जब यह विरुद्ध हेतु पड़ते देखा तो सत्यार्थप्रकाश में **'यस्य नाम महद्यशः'** यह पाठ ही नहीं लिखा। यदि हम इसको मिला लें तो सत्यार्थप्रकाश-लिखित मन्त्रोक्त हेतु विरुद्धहेतु हो जाता है, क्योंकि अर्थ यह होगा कि 'जो ईश्वर महत् यशवाला है उसकी मूर्त्ति नहीं होती।' संसार में यशवालों की ही अधिक मूर्त्तियाँ देखने में आती हैं। —पृ० १९६, पं० १

उत्तर—स्वामीजी महाराज ने पुस्तक में विस्तार-भय से सारा मन्त्र नहीं लिखा। आपकी यह कल्पना निरर्थक है कि विरुद्धहेतु पड़ने के कारण अगला पाठ नहीं दिया, क्योंकि स्वामीजी ने ऋग्वेदादिभाष्यभूमिका के मूर्त्तिपूजाप्रकरण में ही इस मन्त्र का पूरा अर्थ किया है। स्वामीजी के अर्थ-अनुसार विरुद्ध हेतु बनता ही नहीं। यदि स्वामीजी के सत्यार्थप्रकाश के अर्थ के साथ **'यस्य नाम महद्यशः'** के अर्थ को जोड़ना है तो इस वाक्य का स्वामीजी का ही किया हुआ अर्थ जोड़ना उचित है। आपने अपना मनघड़न्त अर्थ जोड़कर और असल पाठ में से निराकार तथा व्यापक शब्द चुराकर अपने मतलब का पाठ बना लिया और स्वयं ही विरुद्धहेतु बताकर खण्डन करने लगे। यदि **'न तस्य प्रतिमा अस्ति'** के अर्थ के साथ ऋग्वेदादिभाष्यभूमिका में से **'यस्य नाम महद्यशः'** के अर्थ को जोड़ें तो पाठ इस प्रकार बन जावेगा कि 'जिसकी आज्ञा का ठीक-ठीक पालन और उत्तम कीर्तियों के हेतु जो सत्यभाषण आदि कर्म हैं उनका करना ही जिसका नामस्मरण कहता है, जो सब जगत् में व्यापक है उस निराकार परमात्मा की प्रतिमा, परिमाण, सादृश्य वा मूर्त्ति नहीं है'। अब बतलाइए, आपका वह विरुद्धहेतु पर लगाकर किधर उड़ गया? अजी श्रीमान्जी! ईश्वर की मूर्त्ति न बनने के हेतु तो सत्यार्थप्रकाश के **'न तस्य प्रतिमा अस्ति'** के अर्थ में ही पड़े हुए हैं और वे हैं सर्वव्यापकता तथा निराकारता। 'चूँकि परमात्मा सारे जगत् में व्यापक और निराकार है, इसलिए उसकी मूर्त्ति नहीं बन सकती, क्योंकि मूर्त्ति साकार और एकदेशी की ही बन सकती है' इसका नाम है हेतुवाद। आपका विरुद्ध हेतुवाद तो 'कहीं की ईंट कहीं का रोड़ा, भानमती ने कुनबा जोड़ा' के समान था, जो हमारे यथार्थ हेतुवाद के आते ही ऐसे गायब हो गया, जैसे गधे के सिर से सींग।

(११९) प्रश्न—सत्यार्थप्रकाश के लेखक ने **'न तस्य'** इस मन्त्र के उत्तरार्द्ध को बिलकुल छुपा लिया, पब्लिक के आगे नहीं आने दिया। इसका कारण कोई बतला सकता है? लेखक जानता है कि इस मन्त्र के उत्तरार्द्ध में वेद ने मूर्त्तिपूजा का मण्डन किया है। —पृ० १९६, पं० १३

उत्तर—स्वामीजी ने **'न तस्य'** इस पूरे मन्त्र का अर्थ ऋग्वेदादिभाष्यभूमिका के मूर्त्तिपूजा प्रकरण में ही दिया है और यजुर्वेद के भाष्य में भी। आपकी यह कल्पना मिथ्या है कि उत्तरार्द्ध में मूर्त्तिपूजा का मण्डन है। उत्तरार्द्ध में भी निराकार, अजन्मा, व्यापक परमात्मा का ही वर्णन है। स्वामीजी ने पुस्तक में विस्तार-भय से सारा मन्त्र नहीं दिया। पूरा मन्त्र तथा उसका अर्थ इस प्रकार है—

न तस्य प्रतिमा अस्ति यस्य नाम महद्यशः।
हिरण्यगर्भ इत्येष मा मा हिंसीदित्येषा यस्मान्न जात इत्येषः॥ —यजुः० ३२। ३

भाषार्थ—जो सब जगत् में परिपूर्ण, व्यापक, निराकार है, जो जन्म नहीं लेता, जिसकी आज्ञा का ठीक-ठीक पालन और उत्तम कीर्तियों के हेतु जो सत्यभाषण आदि कर्म हैं उनका करना ही जिसका नामस्मरण कहाता है, जो पमरेश्वर तेजवाले सूर्यादि लोकों की उत्पत्ति का कारण है, जिसकी प्रार्थना इस प्रकार करनी होती है, कि 'हे परमात्मन्! हम लोगों की सब प्रकार से रक्षा कीजिए।' कोई कहे कि इस निराकार, सर्वव्यापक परमेश्वर की उपासना क्यों करनी चाहिए तो उत्तर यह है कि जो परमेश्वर किसी माता-पिता के संयोग से कभी न उत्पन्न हुआ, न होता और न होगा और न वह कभी शरीरधारण करके बालक, जवान और वृद्ध होता है, उस परमेश्वर की प्रतिमा अर्थात् नाप का साधन तथा प्रतिबिम्ब वा सादृश्य, अर्थात् जिसको तस्वीर कहते हैं सो किसी प्रकार नहीं है, क्योंकि वह मूर्त्तिरहित, अनन्त, सीमारहित और सबमें व्यापक है। इससे निराकार की उपासना सब मनुष्यों को करनी चाहिए।

फरमाइए, इसमें मूर्त्तिपूजा का मण्डन मन्त्र के कौन-से पदार्थ से होता है?

(१२०) प्रश्न—उत्तरार्द्ध में सबसे पहले **'हिरण्यगर्भ इत्येष'** इस मन्त्र में ईश्वर का शरीर धारण और मनुष्यों का उसको हवि देकर पूजन करना बतलाया, फिर हम कैसे मान लें कि उसकी मूर्त्ति नहीं? —पृ० १९६, पं० २५

उत्तर—इस मन्त्र में न तो परमात्मा के शरीर धारण करने का वर्णन है और न ही हवि शब्द स्थूल पदार्थों के लिए प्रयुक्त हुआ है। इस मन्त्र के अर्थों से परमात्मा का शरीरधारण सिद्ध करना स्वयं वेदमन्त्र के अभिप्राय के विरुद्ध है। मन्त्र में परमात्मा को प्रकाशरहित पृथिवी आदि तथा प्रकाशसहित सूर्यादि लोक-लोकान्तरों को धारण करनेवाला लिखा है। भला! शरीरधारी और भोजन ग्रहण करनेवाला तुच्छ शक्तिधारी इन लोक-लोकान्तरों को धारण करने में कैसे समर्थ हो सकता है? अतः इस मन्त्र से ईश्वर के शरीरधारी होने की कल्पना करना सर्वथैव निर्मूल है। मन्त्र का ठीक-ठीक अर्थ निम्न प्रकार है—

हिरण्यगर्भः समवर्त्तताग्रे भूतस्य जातः पतिरेक आसीत्।
स दाधार पृथिवीं द्यामुतेमां कस्मै देवाय हविषा विधेम॥ —यजुः० १३। ४

भाषार्थ—हे मनुष्यो! जैसे हम लोग जो इस उत्पन्न हुए संसार को रचने और पालन करनेहारा, सहाय की अपेक्षा से रहित, सूर्य आदि तेजोमय पदार्थों का आधार, जगत् रचने के पहले वर्त्तमान था वह इस संसार को रचके और प्रकाशरहित भूगोल आदि तथा प्रकाशसहित सूर्यादि लोकों को धारण करता हुआ वर्त्तमान है, उस सुखरूप, प्रजा पालनेवाले, प्रकाशमान परमात्मा की आत्मा आदि सामग्री से सेवा में तत्पर हैं, वैसे तुम लोग भी इस परमात्मा का सेवन करो॥ ४॥

क्या आप बतलाने की कृपा करेंगे कि मूर्त्तिपूजा का मण्डन इस मन्त्र के कौन-से पदों से होता है?

(१२१) प्रश्न—इतना ही नहीं किन्तु **'हिरण्यगर्भ'** इस मन्त्र से मूर्त्तिनिर्माण होकर उसका पूजन होता है। —पृ० १९७, पं० ११

उत्तर—कोई आदमी किसी मन्त्र को पढ़कर किसी प्रकार के काम को करे या करना लिख दे तो इसमें मन्त्र का क्या दोष? परन्तु ऐसा करने से यह कैसे सिद्ध हो गया कि मन्त्र में भी ऐसा ही करना लिखा है? उदाहरणार्थ एक दुराचारी आदमी **'विश्वानि देव'** मन्त्र पढ़कर शराब पीता है या पीना लिख देता है तो इसमें मन्त्र का क्या दोष? तथा यह कैसे मान लिया जावे कि यह मन्त्र शराब पीने का विधान करता है जबतक इस मन्त्र के अर्थों से शराब पीने की विधि

सिद्ध न हो? इसी प्रकार यदि कोई सूत्रकार **'हिरण्यगर्भ'** इस मन्त्र से मूर्त्ति बनाकर उसके पूजन का विधान लिख दे तो इससे सिद्ध नहीं हो सकता कि यह मन्त्र मूर्त्तिपूजा का विधान करता है, जबतक कि उसके अर्थों से मूर्त्तिपूजा का विधान सिद्ध न हो।

अब आप यह बतलावें कि इस मन्त्र के वे कौन-से शब्द हैं जिनका अर्थ मूर्त्तिनिर्माण तथा पूजन का विधान करते हैं। यदि नहीं तो कात्यायन का या शतपथ अथवा किसी और का लिखना हमारे लिए क्या मूल्य रखता है? हम इस प्रकार वेदविरुद्ध लेख का इतना भी मूल्य नहीं समझते जितना कि उस काग़ज का जिसपर कि वह लिखा हुआ है। यदि आपको प्रमाण हो तो आप शहद लगा-लगाकर चाटा करें, हमारे सामने पेश करने की आवश्यकता नहीं।

(१२२) प्रश्न—इस विषय में कात्यायनकल्पसूत्र लिखता है कि—

अथ पुरुषमुपदधाति स प्रजापतिः सोऽग्निः स यजमानः स हिरणमयो भवति ज्योतिर्वै हिरण्यं ज्योतिरग्निरमृतं हिरण्यममृतमग्निः पुरुषो भवति पुरुषो हि प्रजापतिः॥ १॥

उत्तानम्प्राञ्चां हिरण्यपुरुषं तस्मिन् 'हिरण्यगर्भ' इति। —कात्यायनकल्पसूत्र १७।४।३

उत्तर—आप कृपया सच बतलावें आपने कभी जन्मभर में कात्यायनकल्पसूत्र की शक्ल भी देखी है? यदि देखी है तो ईमानदारी के साथ बतलावें कि यह इतना लम्बा-चौड़ा पाठ जो आपने कात्यायन के नाम से नम्बर॥ १॥ तक दिया है क्या कात्यायनसूत्र में है? हमारे सामने कात्यायनश्रौतसूत्र 'चौखम्बा संस्कृत ग्रन्थमाला' का बनारस में १९०३ सन् का विद्याविलास प्रेस का छपा हुआ विद्यमान है। इसके पृ० ७५२ पर **'उत्तानम्'** इत्यादि सूत्र तो है, परन्तु इससे पूर्व का जो पाठ है, वह नहीं है। क्या इसी का नाम ईमानदारी है? जो आदमी इतना बड़ा पाठ किसी पुस्तक के नाम से लिख सकता है, उससे धर्मनिर्णय की क्या आशा की जा सकती है? यद्यपि हम इस कात्यायनसूत्र को स्वत:प्रमाण नहीं मानते और न ही इसके लेख के हम उत्तरदाता हैं तथापि सनातनधर्म्म के लेखकों की ईमानदारी की परीक्षा के लिए आपको यह सब-कुछ बतला रहे हैं। लो, एक बात और बतलाते जावें कि इस **'उत्तानम्'** इत्यादि सूत्र में भी मूर्त्ति के पूजने का नाममात्र भी नहीं है। इस सूत्र की टीका जो कर्काचार्य ने की है वह यह है कि **'तस्मिन् रुक्मे प्राञ्चं उत्तानं हिरण्यपुरुषमुपदधाति हिरण्यगर्भ इत्यनेन मन्त्रेण॥ १७।७५॥'**

इसका भाषार्थ यह है कि 'उस रुक्म आसन पर पूर्व की ओर ऊँचे उठाये हुए हिरण्यपुरुष नामक यज्ञपात्र को रखता है—**'हिरण्यगर्भ'** इस मन्त्र से।'

अब बतलाइए, इस सूत्र में परमात्मा की मूर्त्ति बनाना तथा उसकी पूजा करने का वर्णन कहाँ है? झूठे पर खुदा की लानत!

(१२३) प्रश्न—इस **'हिरण्यगर्भ'** इस मन्त्र पर शतपथ भी है, उसकी भी सुनिए, **'अथ साम गायति ऐतद् वै देवा।'** इत्यादि [शत० ७।४।१।२२-२५]।

पाठको! अब आप ही बतावें **'न तस्य प्रतिमा अस्ति'** इस मन्त्र में ईश्वर की मूर्त्ति का खण्डन है वा मूर्त्तिपूजा का विधान। —पृ० १९७, पं० १७

उत्तर—सुनाइए महाराज! वह भी सुना दीजिए। यद्यपि हम शतपथ को स्वत:प्रमाण नहीं मानते तथापि सुनने में क्या हर्ज है! यह पता तो लगेगा कि आपकी दौड़ कहाँ तक है, परन्तु हमें विश्वास नहीं कि आप सच बोलेंगे, क्योंकि अभी आप कात्यायन के नाम से एक मनघड़न्त पाठ दे चुके हैं। सम्भव है आप यहाँ पर भी वैसा ही करें। परन्तु ख़ैर, हमारा क्या हर्ज है—कीजिए, पेश कीजिए, तो क्या सचमुच **'अथ......गायति'** शतपथ का यह पाठ हिरण्यगर्भ पर ही है? इस सारे पाठ में **'हिरण्यगर्भ'** या इस मन्त्र का कोई शब्द तो नज़र आता नहीं! अच्छा तो पुस्तक खोलकर देख लेते हैं। यह लो वही हुआ, जिसकी आशा थी।

आपने '**हिरण्यगर्भ**' का शतपथ न देकर अगले मन्त्रों का दे दिया है और उसे '**हिरण्यगर्भ**' का प्रकट करके एक बड़ा भारी पाप किया है, जिसका कोई प्रायश्चित नहीं हो सकता। इस मन्त्र के शतपथ में आपके सिद्धान्त की पुष्टि करनेवाली कोई भी बात नहीं है। लीजिए, हम इस मन्त्र का शतपथ तथा निरुक्त दोनों दर्ज कर देते हैं—

हिरण्यगर्भः समवर्त्तताग्रऽइति। हिरण्यगर्भो ह्येष समवर्त्तताग्रे भूतस्य जातः पतिरेक आसीदित्येष ह्यस्य सर्वस्य भूतस्य जातः पतिरेक आसीत् स दाधार पृथिवीं द्यामुतेमामित्येष वै दिवं च पृथिवीं च दाधार कस्मै देवाय हविषा विधेमेति प्रजापतिर्वै कस्तस्मै हविषा विधेमेत्येतत्॥
—शथ० ७।४।१।१९

यह है इस मन्त्र का शतपथ, अब इसमें से एक शब्द ही ऐसा निकालकर दिखलावें जिससे मूर्त्ति का निर्माण या पूजन सिद्ध हो सके।

हिरण्यगर्भो हिरण्यमयो गर्भो हिरण्यमयो गर्भोऽस्येति वा। गर्भो गृभेर्गृणात्यर्थे, गिरत्यनर्थानिति वा॥ यदा हि स्त्री गुणान् गृह्णाति गुणश्चास्या गृह्यन्तेऽथ गर्भो भवति, समभवदग्रे भूतस्य जातः पतिरेको बभूव स धारयति पृथिवीं च दिवं च कस्मै देवाय हविषा विधेमेति व्याख्यातम्॥ विधतिर्दानकर्मा॥ १॥
—निरु० अ० १०, ख० २३

क्या आप इस निरुक्त में से कोई शब्द बतला सकते हैं कि जिससे मूर्त्तिनिर्माण अथवा मूर्त्तिपूजन सिद्ध हो सके? यदि नहीं तो यह निश्चय है कि यह मन्त्र तथा इसपर शतपथ और निरुक्त सभी परमात्मा को निराकार, अजन्मा और व्यापक वर्णन करके मूर्त्तिपूजा का घोर खण्डन करते हैं।

(१२५) प्रश्न—'न तस्य' इस मन्त्र में दूसरा प्रतीक '**मा मा हिꣳसी**' है। मन्त्र में ईश्वर को 'प्रथम शरीरी' कहा है। शरीर मूर्त्ति ही होता है। इसी मन्त्र में ईश्वर को हवि देना लिखा है, फिर हम कैसे मान लें कि '**न तस्य प्रतिमा अस्ति**' इस मन्त्र में मूर्त्तिपूजा का खण्डन है?
—पृ० १९८, पं० ५१

उत्तर—इस मन्त्र में न तो परमात्मा को शरीर धारण करनेवाला वर्णन किया है और न ही हवि के अर्थ भोजन करने के पदार्थ हैं। मन्त्र में परमात्मा को पृथिवी तथा द्युलोक को पैदा करके सबमें व्याप्त वर्णन किया है। भला! यदि वह शरीरधारी भोजन करनेवाला हो तो वह पृथिवी तथा द्युलोक का कर्त्ता तथा व्यापक कैसे हो सकता है? अतः परमात्मा निराकार तथा व्यापक है। इस मन्त्र का ठीक अर्थ इस प्रकार है—

मा मा हिꣳसीज्जनिता यः पृथिव्या यो वा दिवꣳ सत्यधर्मा व्यानट्।
यश्चापश्चन्द्राः प्रथमो जजान कस्मै देवाय हविषा विधेम॥

—यजुः० १२।१०२

भाषार्थ—जो जन्मादि से रहित, आदिपुरुष, सत्य धर्मवाला जगदीश्वर पृथिवी का उत्पन्न करनेवाला अथवा जो सूर्य आदि जगत् को, जल और वायु को उत्पन्न करके व्याप्त होता है और जो चन्द्रमा आदि लोकों को उत्पन्न करता है, जिस सुखस्वरूप, सुख करनेहारे, दिव्य गुणों के दाता, विज्ञानस्वरूप ईश्वर का ग्रहण करने योग्य भक्तियोग से हम लोग सेवन करें, वह जगदीश्वर मुझको कुसंग से ताड़ित न होने दे॥ १०२॥

भला! इस मन्त्र में वे कौन-से पद हैं, जो ईश्वर को शरीरधारी और भोजन करनेवाला वर्णन करते हैं?

(१२५) प्रश्न—'न तस्य' मन्त्र में तीसरा प्रतीक '**यस्मान्न जातः**' है। इस मन्त्र में ईश्वर को प्रजारूप कहा। प्रजा में बिना रूप के कोई पदार्थ रहता नहीं, समस्त रूप उसी से निकले

हैं, इससे वह मूर्त्तिमान् है। फिर मूर्त्ति का निषेध करना हठ नहीं तो और क्या है?

—पृ० १९९, पं० ९

उत्तर—इस मन्त्र में न तो परमात्मा को प्रजारूप कहा है और न ही रूपधारी वर्णन किया है, अपितु परमात्मा को प्रजापति अर्थात् प्रजा का पालक और समस्त लोकों में व्यापक वर्णन किया है। भला! जो व्यापक है वह कभी शरीरधारी हो सकता है या उसकी कोई मूर्त्ति बना सकता है? कदापि नहीं। अतः सिद्ध हुआ कि परमात्मा निराकार, अजन्मा तथा सर्वव्यापक है। मन्त्र का ठीक अर्थ इस प्रकार है—

यस्मान्न जातः परो अन्य अस्ति य आविवेश भुवनानि विश्वा।
प्रजापतिः प्रजया सꣳ रराणस्त्रीणि ज्योतीꣳषि सचते स षोडशी॥ —यजुः० ८।३६

भाषार्थ—जिस परमेश्वर से उत्तम और दूसरा नहीं हुआ, जो परमात्मा समस्त लोकों में व्याप्त हो रहा है, वह सब संसार से उत्तम दाता होता हुआ इच्छा, प्राण, श्रद्धा, पृथिवी, जल, अग्नि, वायु, आकाश, दशों इन्द्रिय, मन, अन्न, वीर्य, तप, मन्त्र, लोक और नाम इन सोलह कलाओं और संसारमात्र का स्वामी परमेश्वर तीन ज्योति, अर्थात् सूर्य, बिजली और अग्नि को सब पदार्थों में स्थापित करता है॥ ३६॥

बताइए, इस मन्त्र में वह कौन-सा पदार्थ है, जिससे ईश्वर का रूपधारी होना सिद्ध होता है?

आपने देख लिया कि ये तीनों मन्त्र भी परमात्मा को व्यापक, अजन्मा और निराकार ही वर्णन करते, हैं, अतः **'न तस्य'** इस मन्त्र का उत्तरार्द्ध भी पूर्वार्द्ध का बलपूर्वक समर्थन करता है कि उस सब जगत् में व्यापक, निराकार परमात्मा की मूर्त्ति नहीं बन सकती।

(१२६) प्रश्न—आर्यसमाजी लोग मूर्त्तिपूजा के खण्डन में निम्न भजन गाते हैं—

तुम्हीं हो मूर्त्ति में भी तुम्हीं व्यापक हो फूलों में।
भला भगवान् पर भगवान् को क्योंकर चढ़ाऊँ मैं॥

यदि यही बात है तो हम भी कहते हैं कि—

तुम्ही हो पेट में व्यापक तुम्हीं व्यापक हो भोजन में।
भला भगवान् को भगवान् में क्योंकर घुसाऊँ मैं॥

इस प्रकार से दुनिया चलेगी तो पैर के ईश्वर से पृथिवी का ईश्वर दब जाएगा। बैठोगे तो आदमी के ईश्वर से चारपाई का ईश्वर दबा धरा है। पाख़ाना फिरोगे तो आदमी के ईश्वर में से ईश्वर निकल भागेगा, पेशाव करोगे तो पेशाब का व्यापक ईश्वर लुढ़क चलेगा—इत्यादि, इत्यादि। आज से सब काम बन्द करो और सीधे टिकट कटाकर यमराज के वेटिंग रूमों में पहुँचो।

—पृ० २००, पं० २५

उत्तर—धन्य हो महाराज! आप आर्यसमाज के सवाल को खूब समझे और उसका जवाब भी खूब दिया। एक ने कहा—'जाट रे जाट तेरे सिर पर खाट'। दूसरे ने जवाब दिया—'तेली रे तेली तेरे सिरपर कोल्हू'। तीसरे ने कहा कि तुक जुड़ी नहीं। चौथे ने कहा जुड़े न जुड़े, बोझ से तो मरेगा ही! वही हाल आपका है। बात बने न बने, लोग यह तो कहेंगे कि खूब जवाब दिया। लेकिन इसपर विचार भी किया था कि कहीं यह दृष्टान्त उलटा न पड़ जावे और लेने के देने पड़ जावें?

श्रीमान्जी! आर्यसमाज परमात्मा को सारे संसार में एकरस व्यापक मानता है और प्राकृतिक जगत् तथा जीवों को व्याप्य मानता है। आर्यसमाज मानता है कि व्याप्य के दुःख-सुख, हानि-

लाभ से व्यापक को दुःख-सुख वा हानि-लाभ नहीं होता। इसके विपरीत सनातनधर्म मानता है कि जैसे 'माता-पिता का पूजन पञ्चतत्त्वात्मक शरीर के द्वारा होता है, इसी प्रकार ईश्वर का पूजन भी उसके शरीर पञ्चतत्त्वों के द्वारा होता है।' —आपकी पुस्तक पृ० १९२, पं० १

इससे स्पष्ट सिद्ध है कि सनातनधर्म पाँच तत्त्वों को माता-पिता के शरीर की भाँति ईश्वर का शरीर मानता है। जैसे माता-पिता को शरीर के द्वारा सुख-दुःख, हानि-लाभ की प्रतीति होती है, वैसे ही ईश्वर को भी पाँच तत्त्वों के द्वारा सुख-दुःख, हानि-लाभ होता है। सनातनधर्म यह मानता है कि पञ्चतत्त्वात्मक मूर्त्ति की पूजा से परमेश्वर प्रसन्न होता है, अतः आर्यसमाज यह शंका करता है कि जब परमात्मा फूलों में भी व्यापक है और मूर्त्ति में भी व्यापक है तो फिर फूलों को मूर्त्ति पर चढ़ाना ईश्वर को ईश्वर पर चढ़ाने के समान है। फिर सनातनधर्म यह भी मानता है कि 'सृष्टि में जितने आकार हैं वे सब ब्रह्म के स्वरूप हैं', (आपकी पुस्तक पृ० १५८, पं० १२)। अब फूल भी ब्रह्म है और मूर्त्ति भी ब्रह्म है, इसलिए मूर्त्ति पर फूलों का चढ़ाना ईश्वर पर ईश्वर का चढ़ाना है। आपने जितने भी प्रश्न किये हैं वे आपपर ही लागू होते हैं। आर्यसमाज का यह भजन ठीक है और मूर्त्तिपूजा पर घोर प्रहार है। हम लोग जो भोजन करते हैं वह ईश्वर को प्रसन्न करने के लिए थोड़े ही करते हैं; हम तो अपनी तृप्ति के लिए करते हैं और हम लोग व्याप्य के दुःख-सुख, हानि-लाभ से व्यापक का दुःख-सुख, हानि-लाभ भी नहीं मानते और न ही इस संसार के आकारों को ब्रह्म का आकार मानते हैं, अतः आपके भजन का जो फ़िक़रा है वह भी सनातनधर्म पर ही विकट सवाल है। इन दोनों शेरों में की गई शंकाओं का सनातनधर्म प्रलय तक भी उत्तर नहीं दे सकता। अब इस प्रश्न का उत्तर सोचने के लिए चाहे आप यमराज से मशविरा करने के लिए यमपुरी को पधारें, चाहे विष्णु से पूछने के लिए समुद्र में गोते खावें, यह आपकी इच्छा पर निर्भर है।

(१२७) प्रश्न—मूर्त्तिपूजा के उड़ाने के लिए '**अन्धन्तमः प्रविशन्ति**' इस मन्त्र के अर्थ में सम्भूति और असम्भूति इन दो पदों के अर्थों में घपला मचाकर वेद से मूर्त्तिपूजा का खण्डन निकाला गया है। —पृ० २०१, पं० १९

उत्तर—स्वामीजी ने वेदमन्त्र के अर्थ में कोई घपला नहीं डाला, मन्त्र का अर्थ बिलकुल साफ़ है (देखो नं० १०५)। आपके भाष्यकार महीधर भी इस मन्त्र के वही अर्थ करते हैं जो स्वामीजी महाराज ने किये हैं। तनिक ध्यान से पढ़ने की कृपा करें—

अधुना व्याकृताव्याकृतोपासनयोः समुच्चिचीर्षया प्रत्येकं निन्दोच्यते। सम्भवनं सम्भूतिः कार्यस्योत्पत्तिः तस्या अन्या असम्भूतिः प्रकृतिः कारणमव्याकृताख्यम्। तामसम्भूति-मव्याकृताख्यां प्रकृतिं कारणमविद्याकामकर्मबीजभूतामदर्शनात्मिकां ये उपासते ते तदनुरूपमेवान्धन्तमोऽदर्शनात्मकं संसारं प्रविशन्ति। ये सम्भूत्यां कार्यब्रह्मणि हिरण्यगर्भाख्ये रताः ते ततस्तस्मादपि भूयो बहुतरमिव तमः प्रविशन्ति॥ ९॥

भाषार्थ—अब कारण-कार्यरूप प्रकृति की उपासना को छुड़ाने की इच्छा से प्रत्येक की निन्दा कहते हैं। सम्भूति कार्यरूप में उत्पन्न हुई प्रकृति का नाम है तथा उससे भिन्न अविकारिणी कारणरूप प्रकृति का नाम असम्भूति है। जो लोग उस अनुत्पन्न, नित्य, अविकारिणी कारणरूपा अविद्या तथा काम से हुए कर्मों की बीजभूत अदृश्य प्रकृति की उपासना करते हैं वे तदनुरूप हो अदर्शनरूप, अन्धकारमय संसार में प्रवेश करते हैं और जो सम्भूति अर्थात् हिरण्यगर्भ मन्त्र में प्रतिपादित ब्रह्म से कार्यरूप जगत् में तब्दील हुई प्रकृति में रत हैं, वे उससे भी अधिकतर अन्धकार में प्रवेश करते हैं॥ ८॥

कहिए महाराज! अब तो आप ऐसा न कहेंगे कि स्वामीजी ने मूर्त्तिपूजा के खण्डन के लिए

मन्त्र के अर्थों में घपला कर दिया।

(१२८) प्रश्न—इस मन्त्र का देवता आत्मा है। जाति अर्थ में आत्मापरक अर्थ ही नहीं बनता। वेदमन्त्र का जो देवता होता है वही मन्त्र का वर्णनीय विषय होता है। नये अर्थ में वेद के साथ यह अन्याय किया गया है कि आत्मा के वर्णन को उड़ाकर प्रकृति और लकड़ी-पत्थर का वर्णन कर दिया। —पृ० २०२, पं० ४

उत्तर—आप तो यूँ ही बिना सोचे-समझे अकारण रो-पीट रहे हैं। यदि इस मन्त्र का देवता आत्मा है तो अर्थ भी तो यही किया गया है कि जो लोग परमात्मा के स्थान में प्रकृति या प्रकृति के बने पदार्थों की पूजा करते हैं वे घोर नरक में पड़ते हैं।

फिर यह अर्थ आत्मापरक क्यों नहीं? और जब आपके आचार्य भी वही अर्थ करते हैं तो फिर आपको इसे जाली कहने का क्या हक़ है?

(१२९) प्रश्न—मन्त्र का अर्थ यह है—जो असम्भूति शरीर की उपासना करते हैं वे नरक को जाते हैं और जो सम्भूति केवल आत्मा के ज्ञान में रत हैं, अपने-आपको ब्रह्म मानते हैं, वे उनसे भी अधिक भयंकर नरक में जाते हैं। —पृ० २०३, पं० ५

उत्तर—आपने असम्भूति का अर्थ शरीर किया है जो सर्वथा मिथ्या है, क्योंकि असम्भूति की व्युत्पत्ति यह है कि **'सम्भवनं सम्भूतिः तस्या अन्या असम्भूतिः'** पैदा होनेवाली वस्तु का नाम सम्भूति तथा उससे भिन्न का नाम असम्भूति है। इससे दो वस्तुओं का नाम असम्भूति हो सकता है—ईश्वर का या प्रकृति का, क्योंकि दोनों ही अनुत्पन्न और नित्य हैं। यहाँ ईश्वर अर्थ नहीं हो सकता, क्योंकि ईश्वर अर्थ करने से यह वाक्य बनेगा कि 'जो ईश्वर की उपासना करते हैं वे नरक में जाते हैं', अतः मानना पड़ेगा कि यहाँ यही अर्थ ठीक है कि 'जो लोग असम्भूति अर्थात् अनुत्पन्न, नित्य प्रकृति की उपासना करते हैं अर्थात् उसको ईश्वर के स्थान में पूजते हैं वे नरक में जाते हैं।' आगे आपने सम्भूति का अर्थ आत्मा किया है, क्योंकि सम्भूति नाम पैदा हुई वस्तुओं का है और आत्मा अनुत्पन्न, अनादि है, अतः यह अर्थ भी संगत नहीं होता कि 'जो लोग आत्मा की उपासना करते हैं वे उससे भी अधिक भयंकर नरक में जाते हैं।' यही अर्थ ठीक है कि 'जो लोग सम्भूति अर्थात् प्रकृति के कार्य पृथिवी, वृक्ष, पाषाण आदि वस्तुओं को परमात्मा के स्थान में पूजते हैं, वे उनसे भी अधिक भयंकर नरक में जाते हैं।'

यह तो रही अर्थों के ग़लत होने की बात, किन्तु यदि आपके अर्थ को ठीक भी मान लिया जावे तो भी बोरी-बिस्तरा गोल करके आपको ही नरक में पधारना पड़ेगा, क्योंकि आप मूर्त्तिपूजा और अवतारपूजा में शरीर की ही पूजा करते हैं और भयंकर नरक में भी आप ही तशरीफ़ ले जावेंगे, क्योंकि आप एक ब्रह्म के बिना कोई भिन्न सत्ता न मानकर अपने-आपको भी ब्रह्म ही कहते हैं। बस दोनों अवस्थाओं में आप ही नरक के अधिकारी होंगे।

(१३०) प्रश्न—जितने भाष्य मिलते हैं सबमें यही अर्थ हैं जो हमने किये हैं।

उत्तर—आप ग़लत कह रहे हैं। हमने महीधरभाष्य अपनी पुष्टि में लिख दिया है। वैसे भी सिद्धान्तानुसार आपका अर्थ ग़लत है।

(१३१) प्रश्न—वेद ने स्वंय **'सम्भूतिं च विनाशं च'** इस मन्त्र में सम्भूति शब्द का अर्थ आत्मा तथा असम्भूति शब्द का अर्थ शरीर किया है। बनावटी अर्थ कैसे सत्य सिद्ध होगा? —पृ० २०२, पं० २१

उत्तर—इस मन्त्र में असम्भूति शब्द है ही नहीं। यदि आप चाहें कि **'तीर्त्वा सम्भूत्या'** में से सन्धिविच्छेद करके **'तीर्त्वा असम्भूत्या'** इस प्रकार से असम्भूति शब्द निकाल लेंगे तो नहीं निकाल सकते, क्योंकि आप उत्तरार्ध में वही शब्द निकाल सकेंगे जो पूर्वार्द्ध में दिये हुए हैं। पूर्वार्द्ध

में तो सम्भूति और विनाश शब्द दिये हैं। तब यदि आप असम्भूति शब्द निकालेंगे तो अर्थ यूँ होगा कि 'जो आदमी सम्भूति और विनाश को इकट्ठा जानता है वह विनाश से मौत को तैरकर असम्भूति से अमृतपान करता है।' अब बतलाइए यह बात कैसे बनेगी? 'जानता तो है वह सम्भूति को और अमृतपान करता है असम्भूति से', अतः आपका अर्थ सर्वथा अशुद्ध है। वास्तव में इस मन्त्र में असम्भूति के स्थान में उसका पर्यायवाची शब्द 'विनाश' आया है, जिसको आपने समझा नहीं। यहाँ विनाश का अर्थ नाशवान् नहीं, अपितु '**विनश्यन्ति अदृश्याः पदार्था भवन्ति यस्मिन् स विनाशः।**' इस मन्त्र का ठीक-ठीक अर्थ इस प्रकार है—

सम्भूतिं च विनाशं च यस्तद्वेदोभयꣳ सह।
विनाशेन मृत्युं तीर्त्वा सम्भूत्यामृतमश्नुते॥ —यजुः० ४०।११

भाषार्थ—हे मनुष्यो! जो विद्वान् (**सम्भूतिम्**) जिसमें सब पदार्थ उत्पन्न होते उस कार्यरूप सृष्टि और उसके गुण-कर्म-स्वाभावों को तथा (**विनाशम्**) जिसमें पदार्थ नष्ट होते उस कारणरूप जगत् और उसके गुण-कर्म-स्वभावों को अर्थात् उन दोनों कार्य और कारणस्वरूपों को एक-साथ जानता है वह विद्वान् (**विनाशेन**) नित्यस्वरूप, जाने हुए कारण के साथ, शरीर छूटने के दुःख से पार होकर (**सम्भूत्या**) शरीर, इन्द्रिय और अन्तःकरणरूप उत्पन्न हुई, कार्यरूप धर्म में प्रवृत्त करानेवाली सृष्टि के साथ मोक्षसुख को प्राप्त होता है॥ ११॥

आशा है कि आप इस प्रकरण को भली-भाँति समझने का यत्न करेंगे।

शिवलिंग पूजा

(१३२) प्रश्न—वेद ब्रह्म को संसार का 'अभिन्ननिमित्तोपादानकारण' मानता है। यजुर्वेद अध्याय १६ और अथर्ववेद काण्ड ११ में शंकर को ब्रह्म तथा सर्वस्वरूप कहा है। शंकर की वे अष्ट मूर्त्तियाँ प्रकृति, महत्तत्त्व, अहंकार, आकाश, वायु, अग्नि, जल और पृथिवी हैं। इन्हीं अष्ट मूर्त्तियों में शंकर का पूजन होता है। —पृ० २०३, पं० १२

उत्तर—वेद ब्रह्म को संसार का 'अभिन्ननिमित्तोपादानकारण' नहीं मानता अपितु वेद '**द्वा सुपर्णा**' इत्यादि अनेक मन्त्रों से ईश्वर, जीव तथा प्रकृति को अनादि वर्णन करता है। इन तीनों में से प्रकृति संसार का उपादानकारण है, ईश्वर निमित्तकारण तथा जीव साधारण कारण है। यजुर्वेद अध्याय १६ तथा अथर्ववेद काण्ड ११ में रुद्र शब्द से दुष्टों को दण्ड देकर रुलानेवाले ईश्वर, राजा, सभापति, सेनापति तथा ४४ वर्ष तक ब्रह्मचर्य धारण करनेवाले ब्रह्मचारियों और पाँच प्राण, पाँच उपप्राण, ग्यारहवाँ मन—इन ग्यारह का भी वर्णन आता है। शंकर नाम से भी कल्याणकारी परमेश्वर का ही वर्णन वेदों में मिलता है, सती और पार्वती के पति, गणेश तथा कार्तिकेय के पिता, भस्मधारी, नर-मुण्डमालाधारी, भस्मभूषणभूषित, वृषारोही, सर्पकण्ठ, नटवर, नृत्यप्रिय, नन्दा वेश्यागामी, अनसूया-धर्मनाशक, हस्ते लिंगधृक्, व्यभिचारप्रवर्तक महादेव नामक पौराणिक व्यक्ति का वर्णन चारों वेदों में क़तई नहीं है और न ही वेदों में कहीं शंकर को सर्वस्वरूप कहा गया है। महतत्त्व, अहंकार, आकाश, वायु इत्यादि ये प्रकृति के ही रूपान्तर हैं, ब्रह्म के नहीं हैं। इसीलिए वेद ने '**अन्धन्तमः**' इत्यादि मन्त्र में परमात्मा के स्थान में प्रकृति की पूजा करनेवाले को नरकगामी बतलाया है, अतः उपर्युक्त प्रपञ्च सर्वथैव मिथ्या, निर्मूल तथा वेदविरुद्ध होने से त्याज्य है।

(१३३) प्रश्न—जो मनुष्य अष्टक प्रकृति में इकट्ठा ही शंकर का पूजन करे उसके लिए ब्रह्माण्ड का पूजन है। इसका छोटा रूप ऋषियों ने शिवलिंग बनाया। शिवलिंग ब्रह्माण्ड का नक्शा है। जैसे यह ब्रह्माण्ड ऊपर से नीचे तक और चारों तरफ कुछ गोल होता है, इसी प्रकार शिव के लिंग की आकृति का वर्णन है। —पृ० २०३, पं० २०

उत्तर—चूँकि वेद ने ब्रह्म के स्थान में प्रकृति की पूजा को पाप वर्णन किया है और प्रकृति के विकार ब्रह्माण्ड की पूजा को महापाप और भयंकार नरक में ले-जाने का साधन बतलाया है, इसलिए यह शिवलिंग वैदिक ऋषियों का बनाया हुआ ब्रह्माण्ड का छोटा रूप नहीं है और न ही शिवलिंग ब्रह्माण्ड का नक्शा है, न ही ब्रह्माण्ड की शिवलिंग से शक्ल मिलती है, क्योंकि ब्रह्माण्ड की शक्ल आपने स्वयं ही पृ० १५५, पं० १४ में बतलाई है कि 'मटर या गेंद की शक्ल का ब्रह्माण्ड है', और शिवलिंग की शक्ल गोलगोल, लम्बी, मूसल के समान है, और न ही शिवलिंग का इस प्रकार से पुराणों में वर्णन मौजूद है। पुराणों के पढ़ने से पता लगता है कि शिवालयों में जो नीचे गोल दायरे की शक्ल है, वह पार्वती की योनि तथा जो बीच में गोल मूसल-सा गड़ा हुआ है वह शिव का लिंग, अर्थात् दोनों के मूत्रेन्द्रि की आकृति अर्थात् मूर्त्ति है। इसके पूर्ण ज्ञानार्थ हम नीचे शिवपुराण का पूरा प्रमाण उपस्थित करते हैं। पढ़िए—

शिवलिंग की स्थापना

दारुनाम वनं श्रेष्ठं तत्रासनृषिसत्तमाः। शिवभक्ताः सदा नित्यं शिवध्यानपरायणाः॥ ६॥
ते कदाचिद्वने याताः समिधाहरणाय च। सर्वे द्विजर्षभाः शैवाः शिवध्यानपरायणाः॥ ८॥
एतस्मिन्नन्तरे साक्षाच्छंकरो नीललोहितः। विरूपं च समास्थाय परीक्षार्थं समागतः॥ ९॥
दिगम्बरोऽतितेजस्वी भूतिभूषणभूषितः। स चेष्टामकरोद् दुष्टां हस्ते लिङ्गं विधारयन्॥ १०॥
मनसा च प्रियं तेषां कर्तुं वै वनवासिनाम्। जगाम तद्वनं प्रीत्या भक्तप्रीतो हरः स्वयम्॥ ११॥
तं दृष्ट्वा ऋषिपत्न्यस्ताः परं त्रासमुपागताः। विह्वला विस्मिताश्चान्याः समाजग्मुस्तथा पुनः॥ १२॥
आलिलिंगुस्तथा चान्याः करं धृत्वा तथा परा। परस्परं तु संघर्षात्संमग्नास्ताः स्त्रियस्तदा॥ १३॥
एतस्मिन्नेव समये ऋषिवर्याः समागमन्। विरुद्धं तं च ते दृष्ट्वा दुःखिताः क्रोधमूर्च्छिताः॥ १४॥
तदा दुःखमनुप्राप्ताः कोऽयं कोऽयं तथाब्रुवन्। समस्ता ऋषयस्ते वै शिवमायाविमोहिताः॥ १५॥
यदा च नोक्तवान् किंचित्सोऽवधूतो दिगम्बरः। ऊचुस्तं पुरुषं भीमं तदा ते परमर्षयः॥ १६॥
त्वया विरुद्धं क्रियते वेदमार्गविलोपि यत्। ततस्त्वदीयं तल्लिंगं पततां पृथिवीतले॥ १७॥
इत्युक्ते तु तदा तैश्च लिङ्गं च पतितं क्षणात्। अवधूतस्य तस्याशु शिवस्याद्भुतरूपिणः॥ १८॥
तल्लिंगं चाग्निवत्सर्वं यद्ददाह पुरः स्थितम्। यत्र यत्र च तद्याति तत्र तत्र दहेत्पुनः॥ १९॥
पाताले च गतं तच्च स्वर्गे चापि तथैव च। भूमौ सर्वत्र तद्यातं न कुत्रापि स्थिरं हि तत्॥ २०॥
लोकाश्च व्याकुला जाता ऋषयस्तेऽतिदुःखिताः॥ २१॥
दुःखिता मिलिताः शीघ्रं ब्रह्माणं शरणं ययुः॥ २२॥
मुनीशाँस्ताँस्तदा ब्रह्मा स्वयं प्रोवाच वै तदा॥ ३१॥
आराध्य गिरिजां देवीं प्रार्थयन्तु सुराः शिवम्। योनिरूपा भवेच्चेद्वै तदा तत्स्थिरतां व्रजेत॥ ३२॥
पूजितः परया भक्त्या प्रार्थितः शंकरस्तदा। सुप्रसन्नस्ततो भूत्वा तानुवाच महेश्वरः॥ ४४॥
हे देवा ऋषयः सर्वे मद्वचः श्रृणुतादरात्। योनिरूपेण मल्लिंगं धृतं चेत्स्यात्तदा सुखम्॥ ४५॥
पार्वतीं च विना नान्या लिङ्गं धारयितुं क्षमा। तया धृतं च मल्लिंगं द्रुतं शान्तिं गमिष्यति॥ ४६॥
प्रसन्नां गिरिजां कृत्वा वृषभध्वजमेव च। पूर्वोक्तं च विधिं कृत्वा स्थापितं लिंगमुत्तमम्॥ ४८॥

—शिव० कोटिरुद्रसंहिता ४, अध्याय १२

भाषार्थ—दारु नाम का एक वन था, वहाँ पर सत्पुरुष लोग रहते थे, जो शिव के भक्त थे तथा नित्यप्रति शिव का ध्यान किया करते थे॥ ६॥ वे कभी लकड़ियाँ चुनने के लिए वन को गये। वे सब-के-सब श्रेष्ठ ब्राह्मण, शिव के भक्त, तथा शिव का ध्यान करनेवाले थे॥ ८॥ इतने

में साक्षात् महादेवजी विकट रूप धारण कर उनकी परीक्षा के निमित्त आ पहुँचे ॥ ९ ॥ नंगे, अति तेजस्वी, विभूतिभूषण से शोभायमान, कामियों के समान दुष्ट चेष्टा करते हुए, हाथ में लिंग धारण करके ॥ १० ॥ मन से उन वनवासियों का भला करने के लिए भक्तों पर प्रसन्न होकर शिवजी स्वयं प्रीति से उस वन में गये ॥ ११ ॥ उसको देखकर ऋषियों की पत्नियाँ अत्यन्त भयभीत हो गईं, व्याकुल तथा हैरान हुईं, कई वापस आ गईं ॥ १२ ॥ कई आलिंगन करने लगीं, कई ने हाथ में धारण कर लिया तथा परस्पर के संघर्ष में वे स्त्रियाँ मग्न हो गईं ॥ १३ ॥ इतने में ही ऋषि महात्मा आ गये। इस प्रकार के विरुद्ध काम को देखकर वे दुःखी हो क्रोध से मूर्च्छित हो गये ॥ १४ ॥ तब दुःख को प्राप्त हुए वे कहने लगे—ये कौन है, ये कौन है? वे सब-के-सब ऋषि शिव की माया से मोहित हो गये ॥ १५ ॥ जब उस नंगे अवधूत ने कुछ भी उत्तर न दिया, तब वे परम ऋषि उस भयंकर पुरुष को यों कहने लगे ॥ १६ ॥ तुम जो यह वेद के मार्ग को लोप करनेवाला विरुद्ध काम करते हो, इसलिए तुम्हारा यह लिंग पृथिवी पर गिर पड़े ॥ १७ ॥ उनके इस प्रकार कहने पर उस अद्भुत रूपधारी, अवधूत शिव का लिंग उसी समय गिर पड़ा ॥ १८ ॥ उस लिंग ने सब-कुछ जो आगे आया अग्नि की भाँति जला दिया। जहाँ-जहाँ वह जाता था वहाँ-वहाँ सब-कुछ जला देता था ॥ १९ ॥ वह पाताल में भी गया, वह स्वर्ग में भी गया, वह भूमि में सब जगह गया, किन्तु वह कहीं भी स्थिर नहीं हुआ ॥ २० ॥ सारे लोक-लोकान्तर व्याकुल हो गये तथा वे ऋषि अति दुःखित हुए ॥ २१ ॥ वे दुःखी हुए सब मिलकर ब्रह्मा के पास गये ॥ २२ ॥ तब ब्रह्मा उन ऋषियों को स्वयं कहने लगे ॥ ३१ ॥ हे देवताओ! पार्वती की आराधना करके शिव की प्रार्थना करो, यदि पार्वती योनिरूप हो जावे तो वह लिंग स्थिरता को प्राप्त हो जावेगा ॥ ३२ ॥ जब उन ऋषियों ने परमभक्ति से शंकर की प्रार्थना और पूजा की, तब अति प्रसन्न होकर महादेवजी उनसे बोले ॥ ४४ ॥ हे देवता और ऋषि लोगो! आप सब मेरी बात को आदर से सुनें। यदि मेरा लिंग योनिरूप से धारण किया जावे तब शान्ति हो सकती है ॥ ४५ ॥ मेरे लिंग को पार्वती के बिना और कोई धारण नहीं कर सकता। उससे धारण किया हुआ मेरा लिंग शीघ्र ही शान्ति को प्राप्त हो जावेगा ॥ ४६ ॥ पार्वती तथा शिव को प्रसन्न करके और पूर्वोक्त विधि के अनुसार वह उत्तम लिंग स्थापित किया गया ॥ ४८ ॥

अब इन्साफ़ से बतलावें कि क्या यह ब्रह्माण्ड का नक्शा है या पार्वती की योनि में शिव का लिंग स्थापित किया हुआ है?

(१३४) प्रश्न—लौकिक ग्रन्थों में योनि और लिंग इन शब्दों से स्त्री-पुरुष की मूत्रेन्द्रिय का भी बोध होता है; किन्तु वेद, पुराण और दर्शन—इनमें इन अर्थों का बोध नहीं होता।

—पृ० २०३, पं० २८

उत्तर—यह ठीक है कि लिंग और योनि शब्द के मूत्रेन्द्रिय से भिन्न और अर्थ भी हैं, परन्तु यह प्रतिज्ञा निर्मूल है कि पुराण आदिकों में लिंग, योनि शब्द के मूत्रेन्द्रिय अर्थ होते ही नहीं। हाँ, यह ठीक है कि अर्थ प्रकरणानुसार लिये जाने चाहिएँ। जैसे (नं० १३३ में लिखी हुई कथा में महादेवजी ने जो लिंग को हाथ में पकड़ रक्खा था और ऋषियों के शाप से कटकर गिर पड़ा। यहाँ लिंग से मूत्रेन्द्रिय ही अभीष्ट है और पार्वती की योनि में स्थिर होना, यहाँ योनि का अर्थ भी मूत्रेन्द्रिय ही है, क्योंकि महादेव का सर्वथा नंगा होना, महादेवजी का अश्लील चेष्टा करना, ऋषियों का उसको आचार से हीन देखना और ऋषियों का यह कहना कि तू जो आचार के विरुद्ध कर रहा है यह तेरा काम वेदमार्ग का लोप करनेवाला है—इत्यादि बातों के कारण यहाँ लिंग का अर्थ मूत्रेन्द्रिय के सिवाय और कुछ हो ही नहीं सकता तथा महादेव का यह कहना कि 'मेरे लिंग को पार्वती के बिना और कोई स्त्री धारण नहीं कर सकती' सिद्ध करता है कि इस कथा में योनि का अर्थ पार्वती की मूत्रेन्द्रिय ही है। इसके अतिरिक्त हम और प्रमाण भी उपस्थित करते

हैं—

दक्षिणावर्तलिंगश्च नरो वै पुत्रवान् भवेत्। वामावर्ते तथा लिंगे नरः कन्यां प्रसूयते॥ १॥
स्थूलैः शिरालैर्विषमैर्लिंगैर्दारिद्र्यमादिशेत्। ऋजुभिर्वर्तुलाकारैः पुरुषाः पुत्रभागिनः॥ २॥
—भविष्य० ब्राह्म० अ० २५

कटुतैलं भल्लातकं बृहतीफलदाडिमम्॥ १७॥
कल्कैः साधितैर्लिप्तं लिंगं तेन विवर्द्धते॥ १८॥ —गरुड० आचार० अ० १७६
कर्पूरं देवदारुं च मधुना सह योजयेत्।
लिंगलेपाच्च तेनैव वशीकुर्यात् स्त्रियं किल॥ २॥ —गरुड० आचार० अ० १८०
सैंधवं च महादेव पारावतमलं मधु।
एभिर्लिप्ते तु लिंगे वै कामिनीवशकृद् भवेत्॥ १६॥ —गरुड० आचार० अ० १८५
ब्रह्मचर्येऽपि वर्तन्त्याः साध्व्या ह्यपि च श्रूयते।
हृद्यं हि पुरुषं दृष्ट्वा योनिः संक्लिद्यते स्त्रियाः॥ २८॥ —भविष्य० ब्राह्म० अ० ७३
सुस्नातं पुरुषं दृष्ट्वा सुगन्धं मलवर्जितम्।
योनिः प्रक्लिद्यते स्त्रीणां दृते पात्रादिवोदकम्॥ ३१॥ —शिव० उमा० अ० २४
पुलकांकितसर्वाङ्गं धर्मकर्मसमन्वितम्।
बभूव काममत्ताया योनौ कंडूयनं जलम्॥ २४॥ —ब्रह्मवैवर्त० खं० ४ अ० २३
ततो जलाशयात् सर्वा दारिकाः शीतवेपिताः।
पाणिभ्यां योनिमाच्छाद्य प्रोत्तेरुः शीतकर्शिताः॥ १७॥ —भागवत० स्कं० १० अ० २२
कर्पूरमदनफलमधुकैः पूरितः शिव।
योनिः शुभा स्याद् वृद्धाया युवत्याः किं पुनर्हर॥ १६॥ —गरुड० आचार० अ० २०२
नमस्ते ईश वरदाय आकर्षिणि विकर्षिणि मुग्धे स्वाहा इति।
योनिलिंगस्य तैलेन शंकर म्लक्षणात्ततः॥ १६॥ —गरुड० आचार० अ० १८४
प्रजग्मुर्गोपिका नग्ना योनिमाच्छाद्य पाणिना॥ ८३॥ —ब्रह्मवैवर्त० खं० ४ अ० २७

भाषार्थ—जिस आदमी का लिंग दायीं तरफ झुका हुआ हो वह पुत्रवाला होता है, जिसका लिंग बायीं तरफ को झुका हुआ हो उसके कन्या पैदा होती हैं॥ १॥ मोटे रगोंवाले, टेढ़े लिंगों से दरिद्रता होती है। जिन पुरुषों के लिंग सीधे, गोल होवें, वे पुत्रों के भागी होते हैं॥ २॥
—भविष्य

कड़वा तेल, भिलावा, बहेड़ा तथा अनार—इसकी चटनी से लेप करने से लिंग बढ़ता है॥
—गरुड

कापूर, देवदारु को शहद के साथ मिलाकर लिंग के लेप करें तो स्त्री वश में हो जाती है॥ २॥

हे महादेव! नमक और कबूतर की बीठ शहद में मिलाकर यदि लिंग पर लेप करे तो स्त्री वश में हो जाती है॥ १६॥
—गरुड

ब्रह्मचर्य में रहती हुई साध्वी स्त्री की योनि भी सुन्दर पुरुष को देखकर टपकने लग जाती है॥ २८॥
—भविष्य

स्नान किये हुए निर्मल सुगन्धित पुरुष को देखकर स्त्रियों की योनि ऐसे टपकने लगती है जैसे मशक में से पानी॥ ३१॥
—शिव

रोमांचित हुई धर्मयुक्त स्त्री के भी काम में मत्त होने पर योनि में खुजली तथा जल टपकने लगता है॥ २५॥ —ब्रह्मवैवर्त

तब तालाब से सारी स्त्रियाँ जाड़े से काँपती हुई, दुःखी, दोनों हाथों से योनि को ढककर बाहर निकल आईं॥ १७॥ —भागवत

हे शिव! यदि योनि को काफूर, मैनफल तथा शहद से भर दिया जावे तो बूढ़ी स्त्री की योनि भी बढ़िया हो जाती है, जवान का तो कहना ही क्या॥ १६॥ —गरुड

नमस्ते इत्यादि मन्त्र को पढ़कर तेल से योनि और लिंग की मालिश करे॥ १६॥—गरुड

योनि को हाथ से ढककर सब गोपियाँ चलीं॥ ८३॥ —ब्रह्मवैवर्त

हम बलपूर्वक घोषणा करते हैं कि इन स्थानों में लिंग तथा योनि के अर्थ सिवाय मूत्रेन्द्रिय के और कुछ हो ही नहीं सकते, अतः आपकी उपर्युक्त प्रतिज्ञा सर्वथा निर्मूल तथा असत्य है।

(१३५) प्रश्न—'लिंगानां च क्रमं वक्ष्ये' [शिव० विद्येश्वर० अ० १८] इत्यादि से शिवपुराण में बतलाया है कि शंकर का सूक्ष्म लिंग प्रणव (ओंकार) है तथा स्थूललिंग यह समस्त ब्रह्माण्ड है, फिर प्रकृति, आकाश, वायु, अग्नि, जल, पृथिवी और पाषाण ये शंकर के अनेक लिंग हैं। पृथिवी विकारलिंग, स्वयम्भूलिंग १, विंदुलिंग २, प्रतिष्ठा किये लिंग ३, चरलिंग ४, गुरुलिंग ५, बस इतने ही लिंगों के पूजने की विधि है तथा इतने ही लिंग पूजे जाते हैं। —पृ० २०४, पं० ४

उत्तर—यदि आपका यह अभिप्राय हो कि ओंकार परमात्मा का वाचक होने से तथा आकाश, वायु, अग्नि, जल, पृथिवी, पाषाणादि समस्त ब्रह्माण्ड अपने कर्त्ता ईश्वर की महिमा का वर्णन करने से, परमात्मा की महिमा के प्रकाशक होने से लिंग कहाते हैं तो इनके विषय में तो आर्यसमाज के प्रश्न ही नहीं हैं। हाँ, ये जो आप पाँच प्रकार के लिंगों की पूजा बतला रहे हैं, ये वही शिवालयों में गड़े हुए लिंगों की तरफ़ आपका संकेत है या ये भी कुछ और ही हैं? यदि ये कुछ और प्रकार के हैं तो आपको इनकी व्याख्या करनी चाहिए थी और यदि ये पाँच भी उन्हीं में से हैं जोकि शिवालयों में गड़े हुए हैं तो फिर आप ग़लत कह रहे हैं, क्योंकि उनकी उत्पत्ति पुराणों ने और ही प्रकार से वर्णन की है। शिवपुराण का एक वर्णन तो हम (नं० १३३ में) बयान कर आये हैं; दूसरी कथा जो लिंगों की पैदाइश के विषय में आती है, वह इस प्रकार है—

देवाद्या ऊचुः—

भूत्वा तु दक्षकन्या त्वं शंकरं परिमोहय। अस्माकं वाञ्छितश्चैतत् कुरु सिद्धिं सदा शिवे॥ १॥
एतत् श्रुत्वा वचस्तेषां निरीक्ष्य कमलासनम्। उवाच विस्मयाविष्टा कालिका जगदीश्वरी॥ २॥

देव्युवाच—

शंभुरद्यतनो बालः किं मां संतोषयिष्यति। मम योग्यं पुमांसं तु अन्यं वै परिकल्पय॥ ३॥

ब्रह्मोवाच—

शंभुः सर्वगुरुर्देवो ह्यस्माकं परमेश्वरः। महासत्त्वो महातेजाः स ते तोषं करिष्यति॥ ४॥
शंभुतुल्यः पुमान् नास्ति कदाचिदपि कुत्रचित्। इत्युक्ता ब्रह्मणा देवी वाढमित्याह चेश्वरी॥ ५॥
ततो विवाहं निर्वर्त्य कृतकृत्या तथा गताः। गताः सर्वे महेशोऽपि सत्या सह तदा गृहम्॥ ६॥
जगाम रेमे सत्या च चिरं निर्भरमानसः। अथ काले कदाचित्तु सत्या सह महेश्वरः॥ ७॥
रेमे न शेके तं सोढुं सती श्रान्ताभवत्तदा। उवाच दीनया वाचा देवदेवं जगद्गुरुम्॥ ८॥
भगवन्नहि शक्नोमि तव भारं सुदुःसहम्। क्षमस्व मां महादेव कृपां कुरु जगत्पते॥ ९॥

निशम्य वचनं तस्या भगवान् वृषभध्वजः। निर्भरं रमणं चक्रे गाढं निर्दयमानसः॥ १०॥ कृत्वा सम्पूर्णरमणं सती च त्यक्तमैथुना। उत्थानाय मनश्चक्रे उभयोस्तेज उत्तमम्॥ ११॥ पपात धरणी पृष्ठे तैर्व्याप्तमखिलं जगत्। पाताले भूतले स्वर्गे शिवलिंगास्तदाभवन्॥ १२॥ तेन भूता भविष्याश्च शिवलिंगाः सयोनयः। यत्र लिंगं तत्र योनिर्यत्र योनिस्ततः शिवः॥ १३॥ उभयोश्चैव तेजोभिः शिवलिंगं व्यजायत॥ १४॥

इति शिवलिंगोत्पत्तिकथनमिति नारदपंचरात्रान्तर्गततृतीयरात्रे प्रथमाध्याये नारदब्रह्मासंवादः॥

—शब्दकल्पद्रुमः, चतुर्थो भागः, पृ० २२२ लिंग शब्द पर

भाषार्थ—देवता इकट्ठे होकर ब्रह्मा के पास गये कि हम तो विवाहित हैं, किन्तु महादेव अविवाहित है। उसका भी विवाह कराना चाहिए, यह सोचकर सब देवता ब्रह्मा तथा विष्णु को साथ लेकर दुर्गा के पास गये और दुर्गा से प्रार्थना की कि आप दक्ष की कन्या बनकर महादेवजी को मोहित करें। हे सदाशिवे! यही हमारी इच्छा है, आप सिद्ध कीजिए॥ १॥ उनकी यह बात सुनकर ब्रह्मा की तरफ़ देखते हुए हैरान होकर जगदीश्वरी काली दुर्गा बोली॥ २॥ यह शम्भू आज का बालक क्या मुझे सन्तुष्ट कर सकेगा? मेरे योग्य कोई और आदमी तजवीज़ करें॥ ३॥ ब्रह्माजी बोले कि यह शम्भुदेव सबके गुरु तथा हमारे स्वामी हैं। बड़े बलवान् और वीर्यवान् हैं, यह आपकी सन्तुष्टि कर देंगे॥ ४॥ शम्भु के तुल्य कोई आदमी नहीं है, न ही कोई कहीं इनके तुल्य होगा। ब्रह्मा की यह बात सुनकर देवी बोली कि 'बहुत अच्छा'॥ ५॥ तब देवी दक्ष के यहाँ सती-रूप में पैदा हुई, तब देवता लोग विवाह से निवृत्त होकर कृतार्थ हो गये और अपने घर चले गये। महादेवजी भी सती के साथ अपने घर चले गये॥ ६॥ और सती के साथ रमण करके मनभर प्रसन्न हुए। कुछ दिनों के पीछे कभी महादेवजी सती के साथ॥ ७॥ रमण करने लगे तो सती थक गई और महादेवजी के बोझ को सह न सकी, तब बड़ी दीन वाणी के साथ जगत् के गुरु महादेव को कहने लगी॥ ८॥ हे भगवन्! मैं आपके दुःसह भार को सह नहीं सकती। हे महादेवजी! मुझे क्षमा करो! हे जगत्पते! मुझपर कृपा करो॥ ९॥ भगवान् महादेव ने उसके वचन को सुनकर खूब पेट भरकर निर्दयता से मैथुन किया॥ १०॥ सम्पूर्ण मैथुन करके छोड़ी हुई सती ने उठने की इच्छा की, तब दोनों का उत्तम वीर्य॥ ११॥ पृथिवी पर गिर पड़ा और उस वीर्य से सारा जगत् व्याप्त हो गया। और उससे पृथिवी, स्वर्ग, पाताल में योनियोंसमेत शिवलिंग पैदा हो गये॥ १२॥ जितने लिंग हो चुके, जितने आगे को होंगे वे योनियोंसमेत इस तेज से ही पैदा हुए तथा होंगे। जहाँ लिंग होगा वहाँ योनि अवश्य होगी और जहाँ योनि होगी वहाँ शिव अवश्य होंगे॥ १३॥ दोनों के तेज से ही शिवलिंग पैदा हुआ॥ १४॥

अब आप बतलावें कि लिंगों की पैदाइश के बारे में आपका लेख ठीक है या पुराणों का? और यहाँ पर लिंग तथा योनि मूत्रेन्द्रिय का नाम है या किसी और वस्तु का? आपका लेख 'मुद्दई सुस्त गवाह चुस्त' के सदृश ही है॥

(१३६) प्रश्न—लिंग के चारों तरफ़ जलहरी होती है। यह जल को बाहर नहीं जाने देती, इससे इसका नाम जलहरी है। जलहरी का अपभ्रंश जलरुरी है। वह साप्तावरण का नक़्शा है। ब्रह्माण्ड के चारों तरफ़ सात आवरण रहते हैं। वह ब्रह्माण्ड की चीज़ को बाहर नहीं जाने देते। उनका ही नक़्शा यह जलहरी है, यह वेद-शास्त्रों का अभिप्राय है। —पृ० २०५, पं० २७

उत्तर—कृपया वेद-शास्त्रों को बदनाम और कलंकित न कीजिए, क्योंकि वेद-शास्त्रों में शिवलिंग तथा जलहरी का वर्णन है ही नहीं तो फिर उनका अभिप्राय यह कैसे हो सकेगा? हाँ, पुराणों में इसका वर्णन है और पुराणों ने स्पष्टरूप से बतलाया है कि लिंग और योनि मूत्रेन्द्रिय का नाम है और उसी योनि की शक़्ल जलहरी रूप में बनाकर उसमें लिंग स्थापित किया गया

है। आप हज़ार बनावटी बातें बनावें, इससे इस बात पर पर्दा नहीं पड़ सकता। भला! जो जल को बाहर जाने से रोकती है, अर्थात् जल की रक्षा करती है उसका नाम जलहरी, अर्थात् जल को हरनेवाली क्योंकर हुआ? हाँ, यह अर्थ तो हो सकता है कि जो लिंग के जल अर्थात् वीर्य को हर लेती है, अतः जलहरी योनि का ही नाम है। जब लिंग ही ब्रह्माण्ड का नक़्शा नहीं तो फिर जलहरी यानी योनि सप्तावरण का नक़्शा कैसे होगा? अच्छा यह तो बतलावें कि शिवलिंग पर पानी डालने का क्या प्रयोजन है? आपकी यह सारी ही कल्पना मिथ्या है। वास्तव में पूर्वकथा (नं० १३३ की) साफ़ बतला रही है कि शिव के लिंग को पार्वती की योनि में स्थापित किया गया और उस योनि का नाम बाण रक्खा गया। देखिए—

गिरिजां योनिरूपां च बाणं स्थाप्य शुभं पुनः। तत्र लिंगं च तत्स्थाप्य पुनश्चैवाभिमन्त्रयेत्॥ ३७॥

—शिव० कोटिरुद्र० अ० १२

भाषार्थ—गिरिजा को योनिरूप शुभ बाण (जलहरी) बनाकर उसमें लिंग का स्थापन करना चाहिए, फिर उसका अभिमन्त्रण करे॥ ३७॥

इसके अतिरिक्त (नं० १३५ में भी) वर्णन है कि शिव तथा सती के वीर्य से योनिसमेत लिंग पैदा हुए। इसे अधिक स्पष्ट करने के लिए हम एक कथा नीचे और देते हैं ताकि आपकी भ्रान्ति दूर हो जावे। पढ़िए—

न शुश्रुम यदन्यस्य लिंगमभ्यर्चितं सुरैः॥ २२६॥
कस्यान्यस्य सुरैः सर्वैर्लिङ्गं मुक्त्वा महेश्वरम्।
अर्च्यतेऽर्चितपूर्वं वा ब्रूहि यद्यस्ति ते श्रुतिः॥ २२७॥
यस्य ब्रह्मा च विष्णुश्च त्वं चापि सह दैवतैः।
अर्चयेथाः सदा लिंगं तस्माच्छ्रेष्ठतमो हि सः॥ २२८॥
न पद्मांका न चक्रांका न वज्रांका यतः प्रजा।
लिंगांका च भगांका च तस्मान्माहेश्वरी प्रजाः॥ २२९॥
देव्याः कारणरूपभावजनिताः सर्वा भगांकाः स्त्रियो
लिंगेनापि हरस्य सर्वपुरुषाः प्रत्यक्षचिह्नीकृताः।
योऽन्यत्कारणमीश्वरात् प्रवदते देव्या च यन्नांकितम्।
त्रैलोक्ये सचराचरे स तु पुमान् बाह्यो भवेद् दुर्मतिः॥ २३०॥
पुल्लिंगं सर्वमीशानं स्त्रीलिंगं विद्धि चाप्युमाम्।
द्वाभ्यां तनुभ्यां व्याप्तं हि चराचरमिदं जगत्॥ २३१॥

—महाभारत अनुशा० अ० १४

भाषार्थ—हमने यह नहीं सुना कि देवताओं ने किसी और के लिंग को पूजा हो॥ २२६॥ महेश्वर को छोड़कर दूसरे किसी के लिंग को सब देवताओं ने पूर्व या अब पूजा हो, ऐसा आपने सुना हो तो कहिए॥ २२७॥ जिसके लिंग को ब्रह्मा और विष्णु तथा आप सब देवताओं के साथ सदा पूजते हैं, इसलिए वह ही इष्टतम है॥ २२८॥ प्रजा न तो पद्मचिह्नवाली है, न चक्र चिह्नवाली और न वज्र चिह्नवाली है अपितु सारी प्रजा लिंग तथा भग के चिह्न से अंकित है, इसलिए सारी प्रजा महादेव की है॥ २२९॥ देवों ने कारणरूप-भाव से भग के चिह्न से अंकित सब स्त्रियाँ पैदा कीं और सारे ही पुरुष प्रत्यक्ष में महादेव के लिंग से चिह्नित हैं। जो महादेव से भिन्न किसी और को कारण कहता है और जो देवी से अंकित नहीं है वह पुरुष चराचर त्रिलोकी से बाहर करने के योग्य है, क्योंकि वह मूर्ख है॥ २३०॥ जितने पुल्लिंग हैं, वे सब महादेव हैं तथा जो स्त्रीलिंग

हैं वे सब पार्वती हैं। इन दोनों के शरीर से ही सारा जगत् व्याप्त है॥ २३१॥

[गीताप्रेस संस्करण में कुछ पाठभेद से इन श्लोकों की संख्या २३० से २३५ है। —सं०]

अब तो आपको निश्चय हो गया होगा कि लिंग के चारों तरफ जो गोल वृत्त (दायरा) बना हुआ है वह केवल जलहरी ही नहीं है, अपितु पार्वती के भग की तस्वीर है।

(१३७) प्रश्न—इससे भिन्न लिंग तथा जलहरी का जो कोई मनमाना अर्थ करता है वह मिथ्या और अमान्य है।

उत्तर—पुराणों के इन प्रकरणों में लिंग तथा योनि का मूत्रेन्द्रिय ही अर्थ है। हम कितने प्रमाण दे चुके हैं और भी देते हैं, पढ़िएगा—

नित्येन ब्रह्मचर्येण लिंगमस्य यदा स्थितम्। महयन्त्यस्य लोकाश्च प्रियं ह्येतन्महात्मनः॥ १५॥
विग्रहं पूजयेद्यो वै लिंगं वापि महात्मनः। लिंग पूजयिता नित्यं महतीं श्रियमश्नुते॥ १६॥
ऋषयश्चापि देवाश्च गन्धर्वाप्सरस्तथा। लिंगमेवार्चयन्ति स्म यत्तदूर्ध्वं समास्थितम्॥ १७॥

—महा० अनुशा० अ० १६१

भाषार्थ—इसका लिंग नित्य ब्रह्मचर्य में स्थित है और लोग उसको पूजते हैं, महात्माओं को यही प्रिय है॥ १५॥ जो महात्मा के शरीर को पूजता है या महात्मा के लिंग को पूजता है वह बड़ी भारी सम्पत्ति को प्राप्त होता है॥ १६॥ ऋषि और देवता, गन्धर्व और अप्सराएँ उसी लिंग की पूजा करते थे, जो ऊपर को खड़ा है॥ १७॥

इस प्रमाण में लिंग का 'ब्रह्मचर्य से रहना' तथा 'ऊपर को खड़ा हुआ' ये दोनों विशेषण सिद्ध करते हैं कि जिस लिंग की पूजा होती है वह महादेव की मूत्र-इन्द्रिय ही है, कोई और वस्तु नहीं है। जब लिंग नाम मूत्र-इन्द्रिय का है तो इसके सहयोग से योनि नाम भी पार्वती की मूत्रेन्द्रिय का ही है और उसी की पौराणिक लोग पूजा करते हैं। हम इस बारे में एक अन्तिम प्रमाण और देते हैं, जिससे आपकी पूर्ण तसल्ली हो जावेगी। देखिए—

कदाचिद्भगवानत्रिर्गङ्गाकूलेऽनसूयया ॥ ६७॥
तस्य भावं समालोक्य त्रयो देवाः सनातनाः।
अनसूयां तस्य पत्नीं समागम्य वचोऽब्रुवन्॥ ७०॥
लिंगहस्तः स्वयं रुद्रो विष्णुस्तद्रसवर्द्धनः।
ब्रह्मा कामब्रह्मलोपः स्थितस्तस्या वशं गतः।
रतिं देहि मदाघूर्णे नोचेत्प्राणाँस्त्यजाम्यहम्॥ ७१॥
मोहितास्तत्र ते देवा गृहीत्वा तां बलात्तदा।
मैथुनाय समुद्योगं चक्रुर्मायाविमोहिताः॥ ७३॥
तदा क्रुद्धा सती सा वै तान् शशाप मुनिप्रिया॥ ७४॥
महादेवस्य वै लिंगं ब्रह्मणोऽस्य महाशिरः!
चरणौ वासुदेवस्य पूजनीया नरैः सदा।
भविष्यन्ति सुरश्रेष्ठा उपहासोऽयमुत्तमः॥ ७५॥

—भविष्य० प्रति० पर्व ३ अ० १७

भाषार्थ—कभी भगवान् अत्रि अपनी धर्मपत्नी अनसूया के साथ गङ्गा के किनारे रहते थे॥ ६७॥ उसके भाव को देखकर सनातनधर्म के तीनों देवता उसकी पत्नी अनसूया को यह बात कहने लगे॥ ७०॥ हाथ में लिंग लिये हुए महादेवजी और विष्णु उसके रस को बढ़ाते हुए तथा

ब्रह्माजी कामवश वेद का लोप करते हुए उस अनसूया के वश में होकर स्थित हो गये। हे मस्त आँखोंवाली! हमें जवानी का दान कर, वरना हम प्राण छोड़ते हैं॥७१॥ मोहित होकर वहाँ वे देवता अनसूया को जबरन पकड़कर मैथुन करने के लिए यत्न करने लगे॥७३॥ तब उस मुनिपत्नी ने क्रोध में आकर उनको शाप दिया॥७४॥ कि संसार में महादेवजी का लिङ्ग, ब्रह्मा का सिर और विष्णु के चरण मनुष्यों से पूजे जावेंगे और हे देवताओ! तुम्हारा उपहास होगा॥७५॥

इस प्रमाण में सिर और पाँव के सहयोग से लिंग भी शरीर के अंग मूत्रेन्द्रिय का ही नाम है और किसी वस्तु का नाम नहीं है।

पुराणों के इन तमाम प्रमाणों से सिद्ध है कि शिवालयों में जो नीचे गोल आकार का दायरा है वह पार्वती की भग तथा जो गोल-गोल मूसल-सा गड़ा हुआ है वह शिव का लिंग है और पौराणिक लोग इनकी पूजा करते हैं।

(१३८) प्रश्न—स्वामीजी ने यह मज़ा किया कि पति के लिए उसकी स्त्री को पूज्या लिख दिया। —पृ० २१९, पं० २८

उत्तर—आप पूजा शब्द के ग़लत अर्थ समझने के कारण भ्रम में पड़े हुए हैं। पूजा शब्द के अर्थ धूप-दीप देना, आरती उतारना, घण्टा-घड़ियाल-शंख बजाना तथा परिक्रमा करना नहीं है। पूजा शब्द शास्त्रों में तीन अर्थों में आता है—(१) किसी वस्तु का उचित आदर, (२) किसी वस्तु का उचित प्रयोग, (३) किसी वस्तु की उचित रक्षा। यह बात हम ज़बानी नहीं कहते अपितु प्रमाणों के आधार पर कहते हैं—

विवाह-संस्कार में वर जब वधू के मकान पर पहुँचता है तो वधू तथा कार्यकर्त्ता आदि कहते हैं कि **'साधु भवानास्तामर्चयिष्यामो भवन्तम्'**—आप आइए, हम आपकी पूजा करेंगे। वर उत्तर देता है **'अर्चय'**—आप पूजा करें। अब वहाँ क्या पूजा होती है? क्या वर की धूप-दीप देकर आरती उतारी जाती है या घण्टा-घड़ियाल-शंख बजाया जाता है या उसकी परिक्रमा की जाती है? कदापि नहीं, अपितु उसे बैठने के लिए आसन, पाँव तथा मुख धोने तथा पीने के लिए जल और भोजनार्थ मधुपर्क एवं उसकी भेंटार्थ गौ दी जाती है। इसी का नाम पूजा या उचित सत्कार है।

पूजा किसने किसकी की?

वसिष्ठ ने विश्वामित्र की

तमागतमभिप्रेक्ष्य वसिष्ठः श्रेष्ठवागृषिः।
विश्वामित्रं नरश्रेष्ठं प्रतिजग्राह पूजया॥ —महा० आदि० अ० १७४ श्लो० ७

ब्राह्मणों ने विदुर की

ततः प्रायाद्विदुरोऽश्वैरुदारैः॥१॥
प्रविवेश महाबुद्धिः पूज्यमानो द्विजातिभिः॥२॥ —महा० सभा० अ० ५८

ब्राह्मणों ने युधिष्ठिर की

ऐते चान्ये च बहवो ब्राह्मणाः शंसितव्रताः।
अजातशत्रुमानर्चुः पुरन्दरमिवर्षयः॥२५॥ —महा० वन० अ० २६

ब्राह्मणों ने अर्जुन की

स तथ्यं मम तच्छ्रुत्वा ब्राह्मणो राजसत्तम।
अपूजयत मां राजन् प्रीतिमाँश्चाभवन्मयि॥१३॥ —महा० वन० अ० १६७

ब्राह्मणों ने कर्ण की

शुभे तिथौ मुहूर्ते च पूज्यमानो द्विजातिभिः॥२८॥ —महा० वन० अ० २५३

ब्राह्मणों ने बलराम की

ततः प्रायाद् बलो राजन्पूज्यमानो द्विजातिभिः॥ ६०॥ —महा०शल्य०अ० ३७

ऋषियों ने राजा की

तं कार्मुकधरं दृष्ट्वा श्रमार्तं क्षुधितं तदा।
समेत्य ऋषयस्तस्मिन् पूजां चक्रुर्यथाविधि॥ २॥ —महा०शान्ति०अ० १२६

तपस्वियों ने शूद्र की

तत्र कश्चित् समुत्साहं कृत्वा शूद्रो दयान्वितः।
आगतो ह्याश्रमपदं पूजितश्च तपस्विभिः॥ ११॥ —महा० अनु० अ० १०

प्रत्येक ने शूद्र की

ज्यायाँसमपि शीलेन विहीनं नैव पूजयेत्।
अपि शूद्रं च धर्मज्ञं सद्वृत्तमपि पूजयेत्॥ ४८॥ —महा० अनुशा० अ० ४८

ऋषियों ने राम की

स हत्वा राक्षसान् सर्वान् यज्ञघ्नान् रघुनन्दनः।
ऋषिभिः पूजितस्तत्र यथेन्द्रो विजये पुरा॥ २४॥ —वाल्मी०बाल०स० ३०

राम-लक्ष्मण ने अहल्या की

राघवौ तु तदा तस्याः पादौ जगृहतुर्मुदा।
स्मरन्ती गौतमवचः प्रतिजग्राह सा हि तौ॥ १७॥ —वाल्मी० बाल० स० ४९

गौतम-अहल्या ने राम की

गौतमोऽपि महातेजा अहल्यासहितः सुखी।
रामं संपूज्य विधिवत्तपस्तेपे महातपाः॥ २१॥ —वाल्मी० बाल० स० ४९

इत्यादि अनेक स्थलों में छोटे-बड़े इत्यादि सबके लिए यथायोग्य सत्कार के अर्थों में पूजा शब्द आता है। जैसे और सबके लिए आता है, वैसे ही स्त्रियों के लिए भी यथायोग्य सत्कारार्थ पूजा शब्द आता है। देखिए—

पितृभिर्भ्रातृभिश्चैताः पतिभिर्देवरैस्तथा। पूज्या भूषयितव्याश्च बहुकल्याणमीप्सुभिः॥ ५५॥
यत्र नार्यस्तु पूज्यन्ते रमन्ते तत्र देवताः। यत्रैतास्तु न पूज्यन्ते सर्वास्तत्राफलाः क्रियाः॥ ५६॥
तस्मादेताः सदा पूज्याः भूषणाच्छादनाशनैः॥ भूतिकामैर्नरैर्नित्यं सत्कारेषूत्सवेषु च॥ ५९॥

—मनु० अ० ३

इयं हि नः प्रिया भार्या प्राणेभ्योऽपि गरीयसी। मातेव परिपाल्या च पूज्या ज्येष्ठेव च स्वसा॥ १४॥

—महा० विराट० अ० ३

भाषार्थ—पिता, भाई, पति तथा देवरादि को चाहिए कि यदि वे कल्याण की इच्छा रखते हैं तो वे स्त्रियों की पूजा करें तथा उन्हें भूषित करें॥ ५५॥ जहाँ नारियों की पूजा होती है वहाँ देवता सन्तान होती है। जहाँ इनकी पूजा नहीं होती वहाँ सारे ही काम निष्फल होते हैं॥ ५६॥ इसलिए कल्याण चाहनेवालों को हमेशा सत्कार, उत्सवों में इनकी गहने, कपड़ों तथा खाने की चीज़ों से पूजा करनी चाहिए॥ ५९॥

इसकी पुष्टि करते हुए युधिष्ठिर कहते हैं—यह हमारी प्रिय पत्नी जो प्राणों से भी प्यारी है, माता के समान पालन करने के योग्य है तथा बड़ी बहिन के समान पूजने के योग्य है॥ १३॥

यह तो रही स्त्री की पूजा, अर्थात् यथायोग्य सत्कार की बात। हाँ, यदि आपको पत्नी के

पाँव पड़ने का शौक़ है तो उसकी पुष्टि में आपको दशरथ का प्रमाण याद रखना चाहिए—

अपि ते चरणौ मूर्ध्ना स्पर्शाम्येष प्रसीद मे॥ १५॥
अञ्जलिं कुर्मि कैकेयि पादौ चापि स्पृशामि ते॥ ३६॥

—वाल्मी० अयो० स० १२

भाषार्थ—यह मैं तेरे पैरों को सिर से स्पर्श करता हूँ, मुझपर कृपा करो॥ १५॥ हे कैकेयि! मैं हाथ जोड़ता हूँ और तेरे पाँव को छूता हूँ॥ १६॥

आशा है अब आपको पत्नी के पूज्या होने में सन्देह न रहेगा।

किन्तु हम आपको पूजा शब्द के और भी विचित्र अर्थ बताते जावें तो आपकी और भी तृप्ति हो जावेगी। शिवपुराण में देखें, जब गणेशजी चौकीदारी का काम कर रहे थे तो महादेवजी ने विष्णु को गणेश को समझाने के लिए भेजा। तब—

अथ शक्तिसुतो वीरो वीरगत्या स्वयष्टितः।
प्रथमं पूजयामास विष्णुं सर्वसुखावहम्॥ ११॥

—शिव० रुद्र० कुमार० अ० १६

अर्थ—पार्वती के वीर पुत्र गणेश ने अपनी लाठी से प्रथम ही सुखकारी विष्णु की पूजा की॥ ११॥

कहिए महाराज! यहाँ पूजा के अर्थ मरम्मत करना है या धूप-दीप देना, आरती उतारना और परिक्रमा करना? पूजा के अर्थ यथायोग्य वर्ताव के हैं, जोकि प्रत्येक स्त्री-पुरुष को परस्पर करना चाहिए।

(१३९) प्रश्न—जड़ शरीर के द्वारा जैसे औरत का व्यापक आत्मा प्रसन्न होकर आर्यसमाजियों को मोक्ष देता है, वैसे ही जड़ मूर्त्ति के द्वारा उसमें व्यापक ईश्वर प्रसन्न होकर वैदिक लोगों को मोक्ष देता है।

—पृ० २२०, पं० २५

उत्तर—औरत का जीवात्मा अपने पुण्य-पापों का फल भोगने के लिए शरीर धारण करता है और उस शरीर में रहते हुए इन्द्रियों के द्वारा सुख-दुःख को अनुभव करता है, किन्तु ईश्वर न तो पुण्य-पाप करता है और न ही पुण्य-पाप का फल भोगने के लिए शरीर धारण करता है, न ही वह व्यापक होते हुए मूर्त्ति आदि व्याप्य वस्तुओं के द्वारा मनुष्य-शरीरवत् सुख वा दुःख अनुभव करता है। यदि परमात्मा व्यापक होने से मूर्त्ति के द्वारा प्रसन्न हो जाता है तो लोहे-पीतल को कूटने से, पहाड़-पत्थर तोड़ने से, कुआँ खोदने से, लकड़ी फाड़ने आदि कर्मों से नाराज़ होकर पौराणिकों को नरक में अवश्य भेजेगा। स्त्री का आत्मा आर्यसमाजियों को मोक्ष नहीं दे सकता, क्योंकि मोक्ष का दाता निराकार, व्यापक परमात्मा है।

हाँ, स्त्री का ग्रहण गृहस्थ के मोक्ष में साधन अवश्य है, जैसाकि मनुजी ने लिखा है—

स संधार्यः प्रयत्नेन स्वर्गमक्षयमिच्छता। सुखं चेहेच्छता नित्यं योऽधार्यो दुर्बलेन्द्रियैः॥

—मनु० ३।७९

भाषार्थ—अक्षय स्वर्ग की इच्छा करनेवाले तथा इस संसार में नित्यसुख की इच्छा करनेवाले को प्रयत्न से इस गृहस्थ का धारण करना चाहिए, किन्तु यह निर्बलेन्द्रिय लोगों से ग्रहण करने के योग्य नहीं है॥ ७९॥

अपत्यं धर्मकार्याणि शुश्रूषा रतिरुत्तमा। दाराधीनस्तथा स्वर्गः पितॄणामात्मनश्च ह॥

—मनु० ९।२८

अर्थ—सन्तान, धर्म-कार्य, सेवा, उत्तम रति और अपना तथा पितरों का स्वर्ग—सब पत्नी

के अधीन है॥ २८॥

फ़रमाइए, अब तो स्त्री के मोक्ष-हेतु होने में आपको सन्देह न रहेगा!

(१४०) प्रश्न—'यद्वाचानभ्युदितम्' इत्यादि केनोपनिषत् की श्रुतियों पर हमारी कुछ शंकाएँ हैं। —पृ० २२०, पं० २८

उत्तर—हाँ, महाराज! आप श्रुतियों पर शंका कर लीजिए। आज तक तो हम यही समझते थे कि श्रुतियों पर नास्तिक लोगों को ही शंका हुआ करती है, किन्तु अब पता लगा कि आप-जैसे पौराणिकों को भी शंका है।

(१४१) प्रश्न—स्वामी दयानन्दजी केवल चार संहिताओं को स्वत:प्रमाण मानते हैं, उपनिषदों को नहीं। उपनिषद् वेदानुकूल होने पर प्रमाण हैं। वेद में एक भी मन्त्र ऐसा नहीं जो ईश्वर को निराकार कहे, ऐसी दशा में केन की श्रुतियों का वेदानुकूलत्व क्या लट्ठ के ज़ोर से सिद्ध होगा? —पृ० २२१, पं० ३

उत्तर—बस श्रीमान्‌जी! यही शंका है—**'खोदा पहाड़ और निकला चूहा'** ऐसी बातों पर ही संगत होता है। **'केन'** का यह पाठ जहाँ स्वामीजी ने दिया है वहाँ पर पहले **'अन्धन्तमः'** तथा **'न तस्य प्रतिमा'** ये दो मन्त्र देकर फिर 'केन' का पाठ दिया है। ये दोनों मन्त्र परमात्मा को निराकार तथा परमात्मा के स्थान में और किसी की पूजा के निषेध का प्रतिपादन करते हैं। इन दोनों मन्त्रों के अनुकूल होने से ही 'केन' का यह पाठ प्रमाण है। आपको 'केन' का पाठ तो नज़र आ गया, किन्तु वेद के दो मन्त्र नज़र न आये, यह हमें भी आश्चर्य है!

(१४२) प्रश्न—इन्हीं श्रुतियों के आगे मूल में यक्षावतार का वर्णन आता है।

उत्तर—न तो वहाँ अवतार शब्द है न परमात्मा के जन्म लेने का वर्णन आता है, अपितु ब्रह्म को सर्वोत्कृष्ट वर्णन करने के लिए लाक्षणिक शैली से वर्णन किया गया है (देखो नं० ९)। यदि आप यह मानते हैं कि इस लेख में वास्तव में परमात्मा का वर्णन है तो वह **'स पर्यगाच्छुक्रमकायम्'** इस वेदमन्त्र के विरुद्ध होने के कारण मानने योग्य नहीं है।

(१४३) प्रश्न—जब वेद ब्रह्म को रूप और अरूप कह रहा है तब उसके रूप-प्रतिपादक मन्त्र पब्लिक के आगे क्यों नहीं आने देते?

उत्तर—परमात्मा निराकार, एकरस, रूपरहित और सब संसार में व्यापक है। वेद का एक मन्त्र भी आप पेश नहीं कर सके जो परमात्मा के दो रूप वर्णन करता हो। यदि किसी भी पौरुषेय पुस्तक में परमात्मा के दो रूप वर्णन हों तो वह पुस्तक अपौरुषेय, वेद के विरुद्ध होने से अप्रमाण मानी जावेगी, क्योंकि वेद परमात्मा को **'स पर्यगात्', 'न तस्य प्रतिमा अस्ति'** इत्यादि मन्त्रों द्वारा निराकार, शरीररहित, परिमाणशून्य और व्यापक वर्णन करता है।

(१४४) प्रश्न—यदि ब्रह्म हमेशा न आँख से दीखता है, न कान से सुनाई देता है, न वाणी उसको कह सकती है और न वह किसी के मन में आता है तो फिर ऐसे ब्रह्म का ध्यान, पूजन कोई कैसे कर सकेगा? निराकार का ध्यान आज तक कभी हुआ नहीं और आगे कभी हो नहीं सकेगा।

उत्तर—नि:सन्देह वह ब्रह्म आँख, नाक, वाणी, जिह्वा तथा स्पर्श का विषय नहीं है और न ही वह ब्रह्म मन का विषय है, क्योंकि प्राकृतिक शरीर की ये प्राकृतिक इन्द्रियाँ प्राकृतिक विषयों को ग्रहण कर सकती हैं। परमात्मा प्रकृति से परे है। वह प्राकृतिक इन्द्रियों से जाना नहीं जा सकता। परमात्मा तो समाधि द्वारा आत्मा से ही अनुभव किया जा सकता है। हाँ, परमात्मा की बनाई हुई स्थूल सृष्टि को प्राकृतिक इन्द्रियों से जानकर और परमात्मा की अद्‌भुत कारीगरी का मन से ध्यान करके परमात्मा की हस्ती का निश्चय किया जा सकता है। वरना साकार वस्तुओं

के प्रतीक के द्वारा निराकार परमात्मा का अनुभव न आज तक हुआ है और न ही होगा। इस बात को वेद स्वयं कहता है—

वेदाहमेतं पुरुषं महान्तमादित्यवर्णं तमसः परस्तात्।
तमेव विदित्वाऽ तिमृत्युमेति नान्यः पन्था विद्यतेऽ यनाय॥

—यजुः० ३१।१८

भाषार्थ—मैं आत्मा उस व्यापक, महान्, प्रकाशस्वरूप, अन्धकार से दूर परमात्मा को जानता हूँ। उसको जानकर ही मनुष्य मोक्ष को प्राप्त होता है; और कोई रास्ता मोक्षप्राप्ति का नहीं है॥ १८॥

इसी को स्पष्ट करने के लिए वेदान्तदर्शन कहता है—

न प्रतीके न हि सः॥ —४।१।४

भाषार्थ—प्रतीक में परमात्मा की उपासना नहीं करनी चाहिए, क्योंकि प्रतीक परमात्मा नहीं है।

सारांश यह है कि प्राकृतिक इन्द्रियाँ परमात्मा की कारीगरी से परमात्मा की हस्ती का निश्चय ही करा सकती हैं, परमात्मा का साक्षात्कार तो केवल आत्मा ही समाधि द्वारा कर सकता है। हाँ, यदि आप परमात्मा को प्रसन्न करना चाहते हैं तो परमात्मा की आज्ञानुसार वेदानुकूल काम करें, और आपको अपने विचारानुसार भी परमात्मा की पूजा करने के लिए परमात्मा की मूर्त्ति कल्पित करने की जरूरत नहीं है, क्योंकि आपने अपनी पुस्तक के पृ० ३१०, पं० ६ में इस प्रकार से लिखा है कि—

'जहाँ वेद ने ईश्वर के मुख का पूजन लिखा है, वहाँ ब्राह्मण का पूजन होगा, जहाँ ईश्वर की भुजाओं का पूजन होना है, वहाँ क्षत्रियों का और ईश्वर के ऊरु-पूजन में वैश्यों का पूजन तथा पाद के पूजन में शूद्रों का पूजन हो जावेगा।'

आपके इस लेखानुसार चारों वर्णों की पूजा ही समस्त ईश्वर की पूजा है। बस, अब आपको मूर्त्ति कल्पना की आवश्यकता नहीं है। चारों वर्णं की सेवा कीजिए। इसी से ईश्वर आपपर प्रसन्न हो जावेगा।

(१४५) प्रश्न—'यथाभिमतध्यानाद्वा' [योग० पाद १, सू० ३९] में लिखा है कि अत्यन्त प्रिय पदार्थ के ध्यान से मन स्थिर होता है। प्रिय पदार्थ साकार ही हो सकता है, अतः साकार के बिना ध्यान न होगा। —पृ० २२१, पं० २२

उत्तर—अत्यन्त प्रिय पदार्थ दो प्रकार के होते हैं—एक ईश्वरकृत, दूसरे मनुष्यकृत। यदि ईश्वर की बनाई हुई वस्तुओं में मन को लगाया जावेगा तो मन को उन वस्तुओं का ज्ञान हो जावेगा और उन वस्तुओं में विद्यमान कारीगरी को जानकर उन वस्तुओं के बनानेवाले ईश्वर की महान् महिमा को जानकर उसके अस्तित्व में निश्चय हो जावेगा, किन्तु उसका साक्षात् अनुभव आत्मा ही कर सकेगा, मन नहीं। यदि मनुष्य जीवकृत पदार्थों में ध्यान लगावेगा तो उन पदार्थों का ज्ञान होकर उनके बनानेवाले मनुष्य की कारीगरी से, उसकी महिमा से, उसके कर्त्ता होने का निश्चय हो जावेगा, इससे मूर्त्ति के कर्त्ता की कारीगरी ही जानी जा सकेगी, ईश्वर को नहीं जाना जा सकता, अतः मूर्त्ति में ईश्वर का ध्यान निरर्थक है।

(१४६) प्रश्न—'परमाणुपरममहत्वान्तोऽस्य वशीकारः' [यो० पा० १, सू० ४०] में लिखा है कि परमाणु से लेकर परम महत् तक इस चित्त का वशीकार होता है। इससे सिद्ध होता है कि ध्यान साकार में ही हो सकता है, निराकार में नहीं। —पृ० २२१, पं० २६

उत्तर—इसमें सन्देह नहीं कि परमाणु से परम महत् तक ध्यान करने से मन को इन वस्तुओं का ज्ञान हो जावेगा; परन्तु उसको परमात्मा का साक्षात्कार न हो सकेगा, क्योंकि प्राकृतिक मन

प्राकृतिक वस्तुओं को ही जान सकता है, परमात्मा को नहीं। परमात्मा को तो आत्मा ही समाधि द्वारा अनुभव करके साक्षात्कार कर सकता है, अतः परमात्मा का साक्षात्कार करने के लिए मूर्त्ति की कल्पना निरर्थक है। मूर्त्ति के ध्यान से तो परमात्मा की कारीगरी तथा उसकी महिमा का भी ज्ञान नहीं हो सकेगा, अपितु मूर्त्ति की कारीगरी तथा मूर्त्ति की सुन्दरता का ही ज्ञान हो सकेगा।

(१४७) प्रश्न—'अर्चत प्रार्चत' इस मन्त्र को स्वामीजी ने ईश्वर की पूजा से हटाकर स्त्री की पूजा में लगा दिय। —पृ० २२२, पं० १२

उत्तर—इस मन्त्र का देवता इन्द्र है। ऐश्वर्यवाला होने से इन्द्र ईश्वर का भी नाम है तथा इन्द्रियों का स्वामी होने से जीव को भी इन्द्र कहते हैं। यदि इस मन्त्र को परमात्मा की पूजा में लगा दिया जावे तब भी इससे मूर्त्तिपूजा सिद्धि नहीं होती, अपितु, ईश्वरपूजा ही सिद्ध होगी। वास्तव में यह मन्त्र मनुष्यों को परस्पर सत्कार की आज्ञा देता है (विशेष देखें नं० ६७)

(१४८) प्रश्न—स्वामीजी कहते हैं कि 'जो फूल संसार को सुगन्धित करते हैं वे मूर्त्तिपूजा के जल में सड़कर बदबू देने लगते हैं, इस कारण मूर्त्तिपूजा छोड़ दो'। यह रूल आर्यसमाज को मान्य है तो आर्यसमाजियों को खाना-पीना सब छोड़ देना चाहिए, क्योंकि घृत, दूध, फल, मिठाई, अन्न जो पदार्थ सुगन्धित और सुहावने हैं, उन्हें खाने से उन सबका बदबूदार पाख़ाना बन जाता है। —पृ० २१३, पं० २०

उत्तर—आपको कभी तो ईमानदारी से काम लेना चाहिए। क्या स्वामीजी ने यही लिखा है जो आपने ऊपर दिया है? आप अपनी ही पुस्तक के पृ० २१५, पं० १२ पर देखें। स्वामीजी का मूल लेख यह है—

'सोलहवाँ'—पत्थर पर चढ़े हुए पुष्प-चन्दन और अक्षत आदि सबका जल और मृत्तिका के साथ संयोग होने से मोरी वा कुण्ड में आकर, सड़के इतना उससे दुर्गन्ध आकाश में चढ़ता है कि जितना मनुष्य के मल का और सहस्रों जीव उसमें पड़ते, उसी में मरते और सड़ते हैं। ऐसे-ऐसे अनेक मूर्त्तिपूजा के करने में दोष आते हैं। इसलिए सर्वथा पाषाणादि मूर्त्तिपूजा सज्जन लोगों को त्यक्तव्य है और जिन्होंने पाषाणमय मूर्त्ति की पूजा की है, करते हैं और करेंगे वे पूर्वोक्त दोषों से न बचे, न बचते हैं और न बचेंगे।

(१४९) प्रश्न—स्वामीजी ने आर्याभिविनय पृ० १८ में **'वायवा याहि दर्शत'** [ऋ० १।२।१] में ईश्वर से प्रार्थना की है कि 'हे परमेश्वर! हमने सोमादि ओषधियों का रस बनाया है आप स्वीकार करें (सर्वात्मा से पान करो)।' यहाँ पर आर्यसमाज ने निराकार ईश्वर को गुर्च के अर्क का भोग लगाया है। गुर्च के अर्क का ईश्वर को भोग लगानेवाला आर्यसमाज स्पष्ट रूप में मूर्त्तिपूजक है। —पृ० १३, पं १

उत्तर—इस मन्त्र में प्रथम तो 'स्वीकार करो' इस वाक्य को ही कोष्ठ में (सर्वात्मा से पान करो) लिखकर स्पष्ट किया है, अतः यह स्वतन्त्र वाक्य नहीं अपितु इसका अभिप्राय 'स्वीकार करो' ही है। दूसरे, इसमें मुख से पान करना नहीं लिखा अपितु सर्वात्मा से पान करना लिखा है, जिससे ईश्वर की सर्वव्यापकता दिखाना ही अभिप्रेत है। तीसरे, 'पान करना' का अर्थ भी पीना नहीं है, अपितु रक्षा करना है, क्योंकि यह रूप **'पा पाने'** का नहीं है अपितु **'पा रक्षणे'** का है, जिससे पिता, पति शब्द भी बनते हैं, अतः इसका अर्थ यह हुआ कि 'आप स्वीकार करें अर्थात् सर्वात्मा से रक्षा करो'। इसी मन्त्र का ऋग्वेद के भाष्य में अर्थ करते हुए स्वामीजी लिखते हैं कि—

(तेषां) तान् पदार्थान्। षष्ठी शेषे अष्टा० २।३।५० इति शेषत्वविवक्षायां षष्ठी **(पाहि)** रक्षयति वा (पृ० ३६ प्रथमभाग)

भाषार्थ—(**तेषां**) आप ही उन पदार्थों के रक्षक हैं, इससे उनकी (**पाहि**) रक्षा भी कीजिए।

यहाँ पर ईश्वर को भोग लगाने की कल्पना करके मूर्त्तिपूजा सिद्ध करने का यत्न वक्ता के अभिप्राय के विरुद्ध दुराग्रहमात्र ही है।

स्वामी दयानन्द और मूर्त्तिपूजा

मनसा परिक्रमा

(१५०) प्रश्न—संस्कारविधि पृ० १९४ में आर्यसमाज की सन्ध्या में मनसा परिक्रमा लिखी है। प्रथम तो ऊपर लिखा है कि—'**अथ मनसापरिक्रमामन्त्राः।**' इस हैडिङ्ग के बाद नीचे '**प्राची दिगग्निरधिपतिः**' इत्यादि वेद के छह मन्त्र परिक्रमा करने के लिखे हैं, जिन मन्त्रों से हमारे समाजी भाई नित्यप्रति ईश्वर की मानसिक परिक्रमा करते हैं। मन से परिक्रमा करना तब ही हो सकता है जब कि ईश्वर की मूर्त्ति कायम कर ली जावे। मूर्त्ति कायम करके उसके चारों तरफ घूमना मूर्त्तिपूजा है, क्योंकि विना स्वरूप, शरीर या मूर्त्ति के परिक्रमा हो ही नहीं सकती। हमारे आर्यसमाजी भाइयों को ईश्वर की मूर्त्ति नित्य बनानी पड़ती है। यह बात दूसरी है कि सनातनधर्मी चार अंगुल या दो बालिश्त की मूर्त्ति बनाते हैं और आर्यसमाजी सौ दौ-सौ मील लम्बी और पचास-साठ मील चौड़ी बनाते हैं, परन्तु बिना मूर्त्ति के इनकी सन्ध्या हो ही नहीं सकती। जब ये प्रतिदिन परमात्मा की मूर्त्ति बनाकर उसकी परिक्रमा करते हैं तो क्या कोई विचारशील मनुष्य कह सकता है कि ये मूर्त्तिपूजा नहीं करते? —पृ० ९, पं० १९

उत्तर—न्यायदर्शन में गौतमाचार्य ने लिखा है—

अविशेषाभिहितेऽर्थे वक्तुरभिप्रायादर्थान्तरकल्पना वाक्छलम्। —न्याय०१।२।१२

जहाँ विशेष अर्थ न किया हो, साधारणतया जो बात कही गई हो, वहाँ वक्ता के अभिप्राय को न लेकर उससे उलटा परिणाम निकालना वाक्छल यानी वाणी का छल होता है।

जितने भी प्रमाण महर्षिकृत पुस्तकों में से पौराणिक मूर्त्तिपूजा की पुष्टि में पेश करते हैं, उन सबमें वाक्छल होता है। इस बात को हम स्थान-स्थान पर दर्शाएँगे, ताकि पाठकों को पता लग जावे कि ये किस ढंग से अपना कार्य सिद्ध करते हैं।

मनसा परिक्रमा के मन्त्रों के विषय में ऋषि संस्कारविधि में लिखते हैं—नीचे लिखे मन्त्रों से 'सर्वव्यापक परमात्मा की स्तुति-प्रार्थना करे। इन मन्त्रों को पढ़ते जाना और अपने मन से चारों ओर बाहिर-भीतर परमात्मा को पूर्ण जानकर निर्भय, निःशंक, उत्साही, आनन्दी, पुरुषार्थी रहना।'

उपर्युक्त लेख में कितनी साफ़ परमात्मा की सर्वव्यापकता वा पूर्णता दिखलाई है! कभी साकार मूर्त्तिवाला सर्वव्यापक हो सकता है? ऐसा साफ़ ऋषि का लेख होने पर भी उससे मूर्त्तिपूजन सिद्ध करना दुराग्रह नहीं तो और क्या है? यहाँ परिक्रमा का अर्थ परमात्मा के चारों ओर चक्कर लगाना है, किन्तु जो मनुष्य सन्ध्या करता है उसकी अपेक्षा से चारों तरफ़, नीचे-ऊपर भाग से है। जब अघमर्षण मन्त्र में मन परमात्मा की महिमा को देखता है तो पाप की इच्छा से घबराकर चारों ओर भागता है, किन्तु जिधर भी जाता है उधर भगवान् को मौजूद, सर्वव्यापक पाता है, परिणामस्वरूप थककर उसी ब्रह्म में स्थित हो जाता है। बस, यह सिद्ध हो गया कि परिक्रमा के अर्थ हमारे शरीर की अपेक्षा से चारों तरफ़, नीचे-ऊपर भागने के हैं, परमात्मा के चारों ओर घूमने के नहीं।

(१५१) प्रश्न—स्वामी दयानन्दजी ने सत्यार्थप्रकाश पृ० ९९ तथा संस्कारविधि में पृ० १९८ में बलिवैश्वदेव विधि में इन्द्र, यम, वरुण, सोम, मरुत्, जल देवताओं को तथा ओखल-मूसल,

लक्ष्मी, भद्रकाली और दुर्गा को भोग लगाना लिखा है। इससे मूर्त्तिपूजा स्पष्ट सिद्ध है।

—पृ० १०, पं० ७

उत्तर—प्रतीत होता है कि आपने झूठ बोलने तथा जनता को भ्रम में डालने का ठेका ही ले-रक्खा है, वरना आपको यह मालूम है कि यह बलिवैश्वदेव का प्रकरण है जोकि पंचमहायज्ञों में चौथा यज्ञ है, जिसकी विधि मनु में अध्याय ३ श्लोक ८४ से ९२ तक में दी गई है। उसी के आधार पर स्वामीजी का यह लेख है, जोकि स्वामीजी ने **'अहरहर्बलिमित्ते'** इत्यादि अथर्व १९।५५।७ के अनुकूल होने से ग्रहण किया है। मनु ने इसका प्रयोजन भी लिख दिया है कि **'भूतानि बलिकर्मणा'** [मनु० ३।८१] प्राणियों का बलिवैश्वदेवयज्ञ से सत्कृत करे। इससे स्पष्ट है कि बलिवैश्वदेव का प्रयोजन अन्न से प्राणियों को तृप्त करना है। फिर न मालूम आपको प्रकरणविरुद्ध झूठ बोलकर मूर्त्तिपूजा सिद्ध करने का क्यों ख़ब्त समाया है? आपकी कल्पना निम्न हेतुओं से सर्वथा मिथ्या है—

(क) यह बलिवैश्वदेवयज्ञ का प्रकरण है, उपासना का प्रकरण ही नहीं है।

(ख) स्वामीजी के लेख में कहीं भी **'भोग'** शब्द नहीं है।

(ग) स्वामीजी ने सत्यार्थप्रकाश तथा संस्कारविधि दोनों में **'सानुगायेन्द्राय नमः। सानुगाय यमाय नमः'** इत्यादि मन्त्रों के नीचे यह पाठ [जिसको आपने चुरा लिया है] दिया है—'इन मन्त्रों से एक पत्तल वा थाली में यथोक्त दिशाओं में भाग धरना। यदि भाग धरने के समय कोई अतिथि आ जाए तो उसी को दे देना, नहीं तो अग्नि में धर देना।' और स्वामीजी का यह लेख भी स्वयं कल्पित नहीं है। देखिए, व्यासजी कहते हैं कि—

एवं कृत्वा बलिं सम्यग्दद्याद् भिक्षां द्विजाय वै।
अलाभे ब्राह्मणस्याग्नावग्रमुद्धृत्य निक्षिपेत्॥ १५॥ —महा० अनु० अ० ९७

इससे भला! मूर्त्तिपूजा कैसे सिद्ध हो सकती है?

(घ) स्वामीजी ने मूर्त्तिपूजा को वेदविरुद्ध सिद्ध करते हुए उसका घोर खण्डन किया है। उनके लेख से तोड़-मरोड़कर मूर्त्तिपूजा सिद्ध करने का प्रयत्न करना महा धोखा और झूठ है।

(ङ) इन मन्त्रों में आपके कल्पित देवताओं का नाम तक भी नहीं है। स्वामीजी ने इन मन्त्रों के अर्थ स्वयं ऋग्वेदादिभाष्यभूमिका के पञ्चमहायज्ञ-प्रकरण में किये हैं, जो निम्न प्रकार हैं—

इन्द्र—परमैश्वर्ययुक्त परमेश्वर और उसके गण।

यम—सत्यन्याय करनेवाला और उसकी सृष्टि में सत्यन्याय करनेवाला सभासद्।

वरुण—सबसे उत्तम परमात्मा और उसके धार्मिक भक्तजन।

सोम—पुण्यात्माओं को आनन्दित करनेवाला परमात्मा और वे लोग।

मरुत्—प्राण—जिनके रहने से जीवन और निकलने से मरण होता है, उनकी रक्षा करना।

आपः—सर्वव्यापक परमात्मा।

वनस्पति—ईश्वर के उत्पन्न किये हुए वायु और मेघ आदि, सबके पालन के हेतु सब पदार्थ तथा जिनसे अधिक वर्षा और जिनके फलों से जगत् का उपकार होता है, उनकी रक्षा करनी।

श्री—जो सेवा करने योग्य परमात्मा और पुरुषार्थ से राज्यश्री की प्राप्ति करने में सदा उद्योग करना।

भद्रकाली—जो कल्याण करनेवाली परमात्मा की शक्ति और सामर्थ्य है उसका सदा अश्रय करना।

ब्रह्मपति—वेद के स्वामी ईश्वर की प्रार्थना विद्या के लिए करना।

वास्तुपति—गृहसम्बन्धी पदार्थों का पालन करनेवाला ईश्वर।

इत्यादि में मूर्त्तिपूजा का नाममात्र भी नहीं है, अपितु परमात्मा का नाम लेकर समस्त प्राणियों के उपकार का काम करना लिखा है।

स्वामीजी सोलह हेतुओं से मूर्त्तिपूजा को त्याज्य बतलाते हैं। आपने पन्द्रह हेतुओं को तो छुआ तक नहीं, केवल एक हेतु पर ही आप नुक्ताचीनी कर सके हैं और उसका भी आपने अधूरा और मनमाना पाठ देकर जनता को भ्रम में डालना चाहा है। इसके अतिरिक्त आपने जो इस काम को मनुष्य के भोजन के साथ तुलना दी है, यह युक्तिशून्य है। क्या मनुष्य के किये हुए भोजन का मल बनना और मूर्त्ति के ऊपर चढ़े हुए पदार्थों का सड़कर बदबू पैदा करना बराबर है? अन्न का भोजन करना मनुष्य के प्राणों का आधार है, भोजन के बिना पुरुष की मृत्यु हो जाती है, तो क्या पुष्प आदि पदार्थ भी मूर्त्ति के प्राणों का आधार हैं वा उनके बिना मूर्त्ति मर जाती है? फिर जिस भोजन को पुरुष खाता है मेदा उसको हज़्म करके उसके रस को खेंचकर उसका खून बनाकर सारे शरीर की पुष्टि करता है, और फोक—सारहीन को पाखाने के रास्ते बाहर फेंक देता है, किन्तु मूर्त्ति पर चढ़ाये पदार्थों का कोई भी उपयोग नहीं होता, तथा मूर्त्ति को उससे कोई लाभ नहीं होता, अपितु वे पदार्थ व्यर्थ ही नष्ट हो जाते हैं, अतः पुरुषों का भोजन करना सार्थक और भोजन में प्रयुक्त पदार्थों का सदुपयोग तथा मूर्त्ति पर पुष्पादि का चढ़ाना निरर्थक और मूर्त्ति पर चढ़ाये पदार्थों का दुरुपयोग है। इससे स्वामीजी का लेख सत्य और आपका असत्य सिद्ध होता है।

(१५३) प्रश्न—स्वामीजी ने '**घृतेन सीता**' इत्यादि [यजुः० १२।७०] इस मन्त्र के भाष्य में लकड़ी के पटेले अर्थात् जिससे खेत की मिट्टी एक-सी की जाती है, उसपर जल, घी, दूध, शक्कर, शहद चढ़ाकर पूजा करना लिखा है। इससे मूर्त्तिपूजा साफ़ तौर से सिद्ध होती है।

—पृ० १४, पं० १०

उत्तर—प्रथम, स्वामीजी के अर्थ में कहीं 'पूजा करो' शब्द नहीं है, आपने चालाकी करके अपनी तरफ़ से शामिल कर दिया है। दूसरे, 'पटेले के ऊपर शहदादि चढ़ाना, स्वामीजी के भाष्य में नहीं अपितु 'पटेला, घी तथा शहद वा शक्कर आदि से संयुक्त करो' ऐसा पाठ है। तीसरे, यहाँ उपासना का प्रकरण नहीं अपितु कृषि का प्रकरण है, क्योंकि इस मन्त्र का देवता कृषि है।

चौथे, पटेला से स्वामीजी का अभिप्राय खेत में हल चलाने से पैदा हुई उस गहरी लकीर का है, जिसमें बोया हुआ बीज उगता है, क्योंकि यह अर्थ मन्त्र में विद्यमान सीता शब्द का है और सीता शब्द का अर्थ हल या सुहागा हो ही नहीं सकता। जैसाकि—

सीता लांगलपद्धतिः। —अमरकोष २।९।१४

अर्थात् सीता यह एक नाम हल की रेखा का है।

इसी का स्वामी जी ने पटेला शब्द से वर्णन किया है। आपने अपनी स्वार्थसिद्धि से मनमाना अर्थ लकड़ी का सुहागा निकाल मारा।

पाँचवें, स्वामीजी के स्वयं लिखे हुए मन्त्र के नीचे के भावार्थ को आपने चुरा लिया है, जिससे स्वामीजी का अभिप्राय स्पष्ट होता है। वह यह है कि—

'सब विद्वानों को चाहिए कि किसान लोग विद्या के अनुकूल घी, मीठा और जल आदि से संस्कार कर स्वीकार की हुई खेत की पृथिवी को अन्न से सिद्ध करनेवाली करें। जैसे बीज सुगन्धि आदि युक्त करके बोते हैं, वैसे इस पृथिवी को भी संस्कारयुक्त करें।'

कहिए, इस भावार्थ में साफ़ तौर से 'पृथिवी को भी संस्कारयुक्त करें' लिखा है या नहीं और अब बतावें कि पटेले का अर्थ सुहागा कैसे हो सकता है? इस मन्त्र का स्पष्ट अभिप्राय

यह प्रकट हो गया कि जैसे नमक, हड्डी, मछलियाँ, राख, पाखाना, खून आदि ख़ास-ख़ास पौधों की परवरिश के लिए आवश्यक हैं, वैसे जल, दूध, घी, शक्कर, शहद आदि पदार्थों से ज़मीन को खाद देकर ठीक संस्कारयुक्त करो, ताकि अन्नादि पदार्थ पुष्कल पैदा हों। इस लेख से मूर्त्तिपूजा निकालना बालू से तेल निकालने के समान सर्वथा असम्भव है।

(१५४) प्रश्न—स्वामीजी ने संस्कारविधि के मुण्डनसंस्कार में लिखा है कि—

'ओं औषधे त्रायस्व एनं मैनः हिः सीः।'

जिसका अर्थ यह है कि 'हे औषध कुश! इस बालक की रक्षा कर, इसको मत मार।' कुशा तृण है, तृण से जीवन की प्रार्थना करना निःसन्देह मूर्त्तिपूजा है। —पृ० १५, पं० ११

उत्तर—हमारे सामने संस्कारविधि विद्यमान है। इसमें केवल यह लिखा है कि ''तत्पश्चात्—

ओं औषधे त्रायस्वैनम्।

इस मन्त्र को बोलके, तीन दर्भ लेके दाहिनी बाजू के केशों के समूह को हाथ से दबाके'' इसके अतिरिक्त संस्कारविधि में न तो इस मन्त्र के अर्थ हैं और न ही तृण से जीवनों की प्रार्थना की गई है। किसी वाक्य के स्वयं मनमाने अर्थ करके स्वयं ही आक्षेप करना कहाँ की ईमानदारी है[१]? यदि आप आक्षेप करना ही चाहते हैं तो इस मन्त्र का अर्थ भी स्वामीजीकृत लिखिए। यजुर्वेद [४।१] में स्वामीजी ने इस मन्त्र के अर्थ इस प्रकार से किये हैं—

'हे विद्वन्! जैसे सोमलता आदि ओषधिगण सब रोगों से रक्षा करता है, वैसे तू भी हम लोगों की रक्षा कर। इस यजमान वा प्राणिमात्र को कभी मत मार।'

अब बतलाइए, इस अर्थ में से मूर्त्तिपूजा कहाँ से सिद्ध होती है?

(१५५) प्रश्न—संस्कारविधि के मुण्डन-संस्कार में लिखा है कि—

'ओं विष्णोर्दः ष्ट्रोऽसि।'

इसका अर्थ यह है कि—'हे छुरे! तू विष्णु की दाढ़ है।' क्या निराकार की दाढ़ हो सकती है? इससे ईश्वर का साकार होना तथा मूर्त्तिपूजा सिद्ध है। —पृ० १५, पं० १६

उत्तर—झूठ बोलना आपका पैतृक पेशा मालूम होता है। संस्कारविधि का मुण्डन-संस्कार हमारे सामने पड़ा है, इसमें यह लिखा है कि—**'ओं विष्णोर्दः ष्ट्रोऽसि'** इस मन्त्र से छुरे की ओर देखके'

बस इसके अतिरिक्त संस्कारविधि में न तो मन्त्र के अर्थ लिखे हैं और न छुरे को विष्णु की दाढ़ बतलाया गया है। आपने स्वयं ही मनमाने अर्थ करके प्रश्न भी कर डाला। यह शरीफ़ आदमियों का काम नहीं है। हाँ, यदि आपको प्रश्न करना है तो पहले आर्यसमाज से इसके अर्थ पूछें, फिर प्रश्न करें। देखिए, **'यज्ञो वै विष्णुः'** [शत० १।१।२।१३] विष्णु नाम यज्ञ का है और **'दंश्यतेऽ नेनेति दंष्ट्रः',** जिससे काटा जावे उसका नाम दंष्ट्र है। अब ऊपर के मन्त्र के अर्थ यह हुए कि—'छुरा यज्ञ में वस्तुओं को काटने का साधन है।'

अब बतलाइए, इसमें ईश्वर का साकार होना तथा मूर्त्तिपूजा किस प्रकार से सिद्ध हो सकती है?

---

१. स्वामीजी के लेख पर शंका करने के लिए स्वामीजी के ही अर्थ लिखने चाहिएँ, जैसाकि स्वामीजी ने स्वयं लिखा है कि 'यहाँ सब मन्त्रों का अर्थ नहीं लिखा है, क्योंकि इसमें कर्मकाण्ड का विधान है, इसलिए विशेषकर क्रिया-विधान लिखा है और जहाँ-जहाँ अर्थ करना आवश्यक है वहाँ-वहाँ अर्थ भी कर दिया है। और मन्त्रों के यथार्थ अर्थ मेरे किये वेदभाष्य में लिखे हैं, जो देखना चाहें वहाँ से देख लेवें।' —संस्कारविधि की भूमिका

(१५६) प्रश्न—संस्कारविधि के मुण्डन-संस्कार में लिखा है कि—

ओं शिवो नामासि स्वधितिस्ते पिता नमस्ते मा मा हिंः सीः॥

इसका अर्थ यह है कि—'हे तेज़ धारवाले छुरे! शिव तेरा नाम है और लोहा तेरा बाप है, मैं तुझे नमस्ते करता हूँ। हे छुरे! तू इस बच्चे को मत मार'।

छुरे को सम्बोधन करके नमस्ते कहना तथा छुरे से यह प्रार्थना कि 'तू बच्चे को मत मार' निःसन्देह मूर्त्तिपूजा है।

—पृ० १६, पं० १

उत्तर—या बेईमानी तेरा आश्रय! हमारे सामने संस्कारविधि का मुण्डन-संस्कार प्रकरण है। इसमें केवल यह लिखा हुआ है कि—

'शिवो नामासि स्वधितिस्ते पिता नमस्तेऽअस्तु मा मा हिंः सीः।

इस मन्त्र को बोलके छुरे को दाहिने हाथ में लेवे।' इसके सिवाय यहाँ कुछ भी नहीं लिखा। न तो यहाँ पर मन्त्र का अर्थ किया हुआ है, न ही कहीं छुरे को नमस्ते लिखा हुआ है और न ही कहीं पूजा शब्द है। स्वयं ही मनमाने ऊटपटाँग अर्थ करके स्वयं ही उसपर प्रश्न करना यह शराफ़त नहीं है। हाँ, यदि आपको अर्थ पर शंका करनी है तो इस मन्त्र का ऋषि दयानन्दकृत अर्थ यजुः० ३।६३ में देखें—

'हे जगदीश्वर! और उपदेश करनेहारे विद्वन्! जो आप अविनाशी होने से वज्रमय (निश्चल=दृढ़) हैं, जिस आपका सुखस्वरूप, विज्ञान का देनेवाला नाम है, सो आप मेरे पालन करनेवाले हैं। आपके लिए मेरा सत्कारपूर्वक नमस्कार विदित हो।'

अब फरमाइए, इसमें छुरे को सम्बोधन करना और उसे नमस्ते करना कहाँ है, और इससे मूर्त्तिपूजा कैसे सिद्ध होती है?

पौराणिक लोग इसी तरह से संस्कारविधि का नाम लेकर कहा करते हैं कि स्वामीजी ने डण्डे की पूजा, जूते की पूजा, ऊखल की पूजा, मूसल की पूजा इत्यादि लिखी है। ऐसा सवाल करने पर बुद्धिमानों को निम्न बातों का ध्यान रखकर उत्तर देना चाहिए—

(१) 'संस्कारविधि में लिखा हुआ दिखाओ कि 'डण्डे की पूजा करो,' 'जूते की पूजा करो' इत्यादि, कहाँ है।

(२) जिस मन्त्र का अर्थ करके प्रश्न कर रहे हो वह अर्थ स्वामीजी का किया हुआ है या किसी और का? स्वामीजी के लिखित मन्त्र पर स्वामीजी का किया हुआ अर्थ ही प्रामाणिक हो सकता है, अन्य का नहीं। बस, इतने से ही सनातनधर्म के प्रश्न इस तरह से अदृश्य हो जावेंगे जैसे गधे के सिर से सींग।

मूर्त्तिपूजा (परिशिष्ट)

प्रश्न—वाल्मीकि रामायण, उत्तरकाण्ड, सर्ग ३१, श्लोक ४२-४३ में लिखा है कि रावण शिवलिंग की पूजा करता था।

उत्तर—प्रथम तो उत्तरकाण्ड प्रक्षिप्त है, क्योंकि फलश्रुति युद्धकाण्ड के अन्त में आ जाती है तथा उत्तरकाण्ड में प्रथम छह काण्डों के विरुद्ध घटनाएँ हैं। उत्तरकाण्ड के नाम से ही प्रकट है कि यह पीछे से बनाकर शामिल किया है। कलकत्ते से छपी रामायण में यह काण्ड है ही नहीं। दूसरे, यह रावण-जैसे राक्षसों का ही काम है। राम तो सन्ध्या किया करते थे। रावण का काम वेदविरुद्ध होने से पापसूचक है।

प्रश्न—राम ने सेतुबन्ध के समय शिवलिंग की पूजा की।

उत्तर—सेतुबन्ध के समय राम ने कोई मूर्त्तिपूजा नहीं की। लंका से वापसी पर राम ने सीता को पुल दिखाकर कहा कि—

अत्र पूर्वं महादेवः प्रसादमकरोद्विभुः। —युद्ध० १२३, श्लोक० २०

उस व्यापक, देवों के देव परमेश्वर ने यहाँ हमपर कृपा की। **'विभुः'** से तात्पर्य व्यापक परमात्मा से है, शिवलिंग से नहीं।

प्रश्न—महाभारत में आता है कि एकलव्य ने द्रोणाचार्य की मूर्त्ति बनाकर शस्त्रविद्या सीखी।

उत्तर—(१) एकलव्य ने परमेश्वर के स्थान में उसकी पूजा नहीं की।

(२) अभ्यास से शस्त्रविद्या सीखी, मूर्त्ति ने नहीं सिखाई।

(३) द्रोणाचार्य को इसका पता भी नहीं लगा।

(४) मूर्त्ति बनाने का फल अंगूठा काटा गया।

(५) एक भील का कर्म अनुकरणीय नहीं।

(६) यदि आपके विचार में ठीक है तो आप भी मूर्त्तियों से वेद पढ़कर दिखलावें।

प्रश्न—**'देवताभ्यर्चनं चैव'** (मनु० २।१७६) में देवताओं की पूजा से मूर्त्तिपूजा सिद्ध है।

उत्तर—यहाँ देवता-पूजा से विद्वानों की पूजा, सेवा-सत्कार का अभिप्राय है। अथवा यदि सूर्य, चाँद, हवादि को देवता माना जावे तो मनु स्वयं कहते हैं कि **'होमैर्देवान् यथाविधि'** [मनु० ३।८१] देवताओं की विधिपूर्वक होम से पूजा करे। यहाँ देवता-पूजा से देवयज्ञ अर्थात् विद्वानों की सेवा तथा हवन करना लिखा है, मूर्त्तिपूजा का विधान नहीं है।

प्रश्न—पत्थर में भी परमात्मा व्यापक है, हम उसकी पूजा करते हैं।

उत्तर—पत्थर में परमात्मा तो है, आत्मा नहीं है, किन्तु तुम्हारे शरीर में परमात्मा तथा आत्मा दोनों हैं, अतः अपने शरीरस्थ आत्मा द्वारा परमात्मा का अनुभव करो।

प्रश्न—पाषाण मूर्त्तिपूजा सीढ़ी है।

उत्तर—हिमालय पर्वत की प्राप्ति के लिए पाषाण सीढ़ी हो सकती है। परमात्मा की प्राप्ति के लिए आत्मा ही सीढ़ी है। इससे ज्ञान-प्राप्ति द्वारा परमात्मा की प्राप्ति होगी।

प्रश्न—प्रकृति की पूजा क्यों न करें?

उत्तर—जीव सत्, चित् है, अतः उसे सत् प्रकृति की उपासना नहीं करनी चाहिए, क्योंकि सत् गुण तो उस-[जीव]-में विद्यमान है। हाँ, परमात्मा सत्-चित्-आनन्द है, अतः आनन्द की प्राप्त्यर्थ परमात्मा की पूजा करनी चाहिए, प्रकृति की नहीं।

प्रश्न—मूर्त्ति के कारण नोटों, रुपयों का व्यवहार सुखदायक है। इसी प्रकार मूर्त्तिपूजा सुखदायक है।

उत्तर—राजा शरीरधारी है उसकी मूर्त्ति नोटों आदि पर बन सकती है, निराकार परमात्मा की नहीं।

नोट, रुपये राजा की आज्ञा से राजा के ही कारखाने में बने हुए सुखदायक हैं। यदि कोई राजा की आज्ञा के विरुद्ध जाली सिक्का घर में बनावे तो जेल की हवा खाता है। इसी प्रकार से परमात्मा की आज्ञानुसार, परमात्मा की बनाई हुई मूर्त्तियों चाँद, सूर्य, पहाड़, हवा, पानी, भूमि, इन्सान, पशु, पक्षी आदिकों से यथायोग्य व्यवहार करके सुखलाभ करो। परमात्मा की आज्ञा के विरुद्ध परमात्मा के स्थान में पाषाण आदि की मूर्त्तियों की पूजा करके नरकगामी न बनो।

प्रश्न—जैसे काल की मूर्त्ति घड़ी है, वैसे परमात्मा की मूर्त्ति भी बन सकती है।

उत्तर—यह मूर्त्ति काल की नहीं सूर्य की है, क्योंकि सूर्य से ही काल का परिमाण है। यदि

सूर्य संसार में न रहे तो काल का कोई व्यवहार न रहे और न ही घड़ी की ज़रूरत।

प्रश्न—शब्दों की तस्वीर अक्षरों की सूरत में बना लेते हैं, वैसे ईश्वर की मूर्त्ति बन सकती है।

उत्तर—शब्द की मूर्त्ति नहीं बनती। एक ही शब्द की विविध देशों में विविध मूर्त्तियाँ हैं। यदि वास्तव में मूर्त्ति बन सकती तो एक-सी बनती। हाँ, जो एक इन्द्रिय का विषय हो उसका दूसरी इन्द्रिय के लिए संकेत बनाया जा सकता है। शब्द चूँकि कान का विषय है, अतः उसे अक्षरों की सूरत में आँखों का विषय संकेत रूप से बनाया जा सकता है। परमात्मा चूँकि किसी इन्द्रिय का विषय नहीं है, अतः उसका कोई संकेत भी नहीं बनाया जा सकता।

प्रश्न—जैसे पानी से बर्फ बन जाती है और दियासलाई से अग्नि प्रकट होती है, ऐसे ही परमेश्वर साकार होकर प्रकट हो जाता है।

उत्तर—आग, पानी, मिट्टी, हवा इन चारों तत्त्वों के चूँकि परमाणु हैं, अतः ये चारों तत्त्व साकार हैं। जब ये परमाणुरूप होते हैं तो सूक्ष्म होने से नज़र नहीं आते, स्थूल अवस्था में नज़र आते हैं, वरना ये प्रत्येक अवस्था में साकार होते हैं, निराकार नहीं हैं, अतः ईश्वर के लिए इनका दृष्टान्त युक्त नहीं है, क्योंकि ईश्वर निराकार, सर्वव्यापक है तथा ये चारों तत्त्व साकार होने से सर्वव्यापक नहीं हैं।

साकार पानी का साकार बर्फ बनता है तथा दिसासलाई से साकर अग्नि प्रकट होती है।

त्रित्ववाद

(१५७) प्रश्न—वेद ने सृष्टिकर्त्ता ईश्वर को माना है तथा वेद ने सृष्टि बनने का मैटर भी ब्रह्म को ही माना है। जैसे मिट्टी से घट, लोहे से कुठार, सूत से वस्त्र, और सुवर्ण से कटक-कुण्डल बनते हैं, इसी प्रकार यह समस्त संसार ब्रह्म से बना है। —पृ० २२३, पं० ४

उत्तर—जहाँ वेद ईश्वर को सृष्टि का कर्त्ता मानता है, वहाँ वेद सृष्टि बनने का मैटर नित्य प्रकृति को मानता है। ईश्वर ऐसे है जैसे घड़े में कुम्हार, कुठार में लुहार, वस्त्र में जुलाहा तथा कटक-कुण्डल में सुनार। जैसे कर्त्ता कुम्हार के गुण घड़े में, लुहार के गुण कुठार में, जुलाहे के गुण वस्त्र में तथा सुनार के कटक-कुण्डल में विद्यमान नहीं हैं, जैसे घड़े में उपादानकारण मिट्टी के गुण, कुठार में लोहे के गुण, वस्त्र में सूत्र-कपास के गुण, तथा कटक-कुण्डल में स्वर्ण के गुण विद्यमान हैं, इसी प्रकार इस सृष्टि में ईश्वर के चैतन्यता, सर्वव्यापकता, सर्वज्ञता आदि गुण विद्यमान नहीं हैं अपितु जड़ता, एकदेशिता आदि प्रकृति के गुण विद्यमान हैं चूँकि उपादानकारण के गुण कार्य में अवश्य होते हैं—**'कारणगुणपूर्वकः कार्यगुणो दृष्टः'** [वै० अ० २, अ० १, सू० २४]। इससे सिद्ध हुआ कि ईश्वर इस सृष्टि का मिट्टी आदि की भाँति उपादानकारण नहीं अपितु कुम्हारादि की भाँति निमित्तकारण है और मिट्टी आदि की भाँति सृष्टि का उपादानकारण नित्य प्रकृति है, जिसको वेद के अनेक मन्त्र वर्णन करते हैं, जैसेकि—

उद्वयं तमसस्परि ज्योतिष्पश्यन्त उत्तरम्।
देवं देवत्रा सूर्यमगन्म ज्योतिरुत्तमम्॥ —अ० १।५०।१०

भाषार्थ—हम सब अन्धकार अर्थात् प्रकृति से ऊपर उठकर अधिक उच्च, प्रकाशमान्, देवों में देव उस उत्तम प्रकाशपूर्ण, गतिदाता प्रभु को अनुभव करते हुए प्राप्त करें।

इस मन्त्र में अन्धकार (तम) नाम प्रकृति का है, इसी का वर्णन करते हुए मनुजी महाराज कहते हैं कि—

आसीदिदं तमोभूतमप्रज्ञातमलक्षणम्।
अप्रतर्क्यमविज्ञेयं प्रसुप्तमिव सर्वतः॥ —मनु० १।५

भाषार्थ—यह जगत् प्रलयकाल में न जानने के योग्य, लक्षण में भी न आने योग्य, तर्क से भी न जानने योग्य, अज्ञातरूप में सब ओर से सोये हुओं की भाँति प्रकृति में लीन था॥ १॥

इसपर कुल्लूकभट्ट लिखते हैं कि—

तमः शब्देन गुणवृत्त्या प्रकृतिर्निर्दिश्यते तम इव तमः। यथा तमसि लीनाः पदार्था अध्यक्षेण न प्रकाश्यन्त एवं प्रकृतिलीना अपि भावा नावगम्यन्त इति गुणयोगः। प्रलयकाले सूक्ष्मरूपतया प्रकृतौ लीनमासीदित्यर्थः॥ १॥

भाषार्थ—यहाँ '**तम**' शब्द से गुणवृत्ति से प्रकृति की ओर संकेत है। जैसे अँधेरे में लीन पदार्थ नज़र नहीं आते वैसे ही प्रकृति में लीन पदार्थ भी जाने नहीं जाते। यही अँधेरे तथा प्रकृति में समानगुण होने से प्रकृति को भी '**तम**' कहते हैं। प्रलयकाल में सूक्ष्मरूप से यह जगत् प्रकृति में लीन था यह अर्थ है। इसपर व्यासजी कहते हैं कि—

सत्त्वक्षेत्रज्ञयोरेतदन्तरं विद्धि सूक्ष्मयोः। सृजतेऽत्र गुणानेक एको न सृजते गुणान्॥ ३३॥
पृथग्भूतौ तु प्रकृत्या सम्प्रयुक्तौ च सर्वदा। यथा मत्स्योऽद्भिरन्यः स्यात् सम्प्रयुक्तो भवेत्तथा॥ ३४॥

—महा० शान्ति० अ० २८५

भाषार्थ—प्रकृति तथा क्षेत्रज्ञ दोनों सूक्ष्मों का यह भेद जानों—एक तो गुणों को पैदा करता, दूसरा गुणों को पैदा नहीं करता॥ ३३॥ ये दोनों प्रकृति से भिन्न हैं और सदा मिले रहते हैं जैसे मछली जल से भिन्न है, किन्तु जल से मिली रहती है॥ ३४॥

इस प्रकार ईश्वर, जीव, प्रकृति तीनों स्वरूप से अनादि तथा व्याप्य-व्यापकभाव से मिले रहते हैं। स्वरूप से अनादिकाल से भिन्न हैं तथा अनन्तकाल तक भिन्न रहेंगे।

(१५८) प्रश्न—**'नासदासीत्', 'न मृत्युरासीत्'** [ऋ० १०।१२९।१-२] इन दो मन्त्रों से प्रकृति, जीव का अभाव होकर केवल ईश्वर-सत्ता का प्रलय में होना सिद्ध है। इसी से वेद ने ईश्वर को संसार का 'अभिन्ननिमित्तोपादानकारण' माना है। —पृ० २२, पं० ९

उत्तर—वेद ईश्वर को संसार का 'अभिन्ननिमित्तोपादानकारण' नहीं मानता, अपितु नित्य प्रकृति को संसार का उपादानकारण तथा ईश्वर को संसार का निमित्तकारण मानता है और ईश्वर, जीव, प्रकृति तीनों ही स्वरूप से भिन्न, अनादिकाल से अनन्तकाल तक विद्यमान रहते हैं। आपने जो दो मन्त्र दिये हैं, इस स्थान पर इस सूक्त में इस विषय के सात मन्त्र हैं, जिनका सामूहिक रूप में प्रकरणानुसार अर्थ लगाने से ईश्वर, जीव तथा प्रकृति तीनों अनादि सिद्ध होते हैं। आपने केवल दो मन्त्र लिखकर मनमाना अर्थ करके प्रकरण-विच्छेद किया। लीजिए, हम आपके सामने इस सारे सूक्त का संगत अर्थ करके बतलाते हैं—

नासदासीन्नो सदासीत्तदानीं नासीद्रजो नो व्योमा परो यत्।
किमावरीवः कुह कस्य शर्मन्नम्भः किमासीद् गहनं गभीरम्॥ १॥

भाषार्थ—**(तदानीं)** उस समय **(न असत् आसीत्)** अभाव न था **(नो सत् आसीत्)** भावपदार्थ प्रकट न था **(रजः न आसीत्)** स्थूल मिट्टी न थी **(यत् परः व्योमा नो)** खाली स्थान भी न था। उस समय **(कुह)** कहाँ **(किम्)** क्या **(आवरीवः)** ढका हुआ था और **(कस्य शर्मन्)** किसके आश्रय से क्या था **(किं)** क्या **(गहनं गभीरम्)** बड़ा गम्भीर **(अम्भः)** पानी-सा उस समय **(आसीत्)** था॥ १॥

न मृत्युरासीदमृतं न तर्हि न रात्र्या अह्न आसीत् प्रकेतः।
आनीदवातं स्वधया तदेकं तस्माद्धान्यन्न परः किं चनास॥ २॥

भाषार्थ—उस समय मृत्यु नहीं थी, क्योंकि अमृत प्रकट न था। रात्रि और दिन के विभाग

का कोई ज्ञान न था। उस समय वह एक आत्मा प्रकृति के साथ प्राणवायु के बिना ही प्राणरूप में था। उससे भिन्न निश्चय से कोई भी श्रेष्ठ नहीं था॥ २॥

तम आसीत्तमसा गूळ्हमग्रेऽ प्रकेतं सलिलं सर्वमा इदम्।
तुच्छ्येनाभ्वपिहितं यदासीत् तपसस्तन्महिनाजायतैकम्॥ ३॥

भाषार्थ—आरम्भ में अन्धकार से व्यापी हुई मूल प्रकृति थी और यह सब जगत् अज्ञेय अवस्था में जल के समान एकाकार था। जब शून्यता से यह व्यापक प्रकृति ढकी हुई थी, उस समय ज्ञानमय तप की महिमा से वह एक बन गया॥ ३॥

कामस्तदग्रे समवर्तताधि मनसो रेतः प्रथमं यदासीत्।
सतो बन्धुमसति निरविन्दन् हृदि प्रतीष्या कवयो मनीषा॥ ४॥

भाषार्थ—इस पूर्वसमय में मन का वीर्य जो पहले था उसके ऊपर काम, अर्थात् संकल्प हुआ। ज्ञानी लोगों ने हृदय में बुद्धि से ढूँढकर जान लिया कि असत् में सत् का भाईपन है अथवा असत् में सत् बँधा है॥ ४॥

तिरश्चीनो विततो रश्मिरेषामधः स्विदासीदुपरि स्विदासीत्।
रेतोधा आसन्महिमान आसन्त्स्वधा अवस्तात् प्रयतिः परस्तात्॥ ५॥

भाषार्थ—इन तीनों का किरण तिरछा फैला है। नीचे भी आश्चर्यकारक रीति से है और ऊपर भी वैसा ही आश्चर्यकारक है। वीर्य का धारण करनेवाले जीव थे, बलशाली महान् जीव थे। इधर आत्मा की धारणशक्ति अथवा प्रकृति थी और परे प्रयत्न का बल था॥ ५॥

को अद्धा वेद क इह प्रवोचत्कुत आजाता कुत इयं विसृष्टिः।
अर्वाग्देवा अस्य विसर्जनेनाथ को वेद यत आबभूव॥ ६॥

भाषार्थ—वास्तविक रूप में कौन जानता है और कौन इस विषय में कह सकता है कि कहाँ से बनी और कहाँ से यह विविध प्रकार की सृष्टि हुई है। इसकी उत्पत्ति के पश्चात् सूर्य, अग्नि आदि दिव्य पदार्थ बने हैं। अब कौन जान सकता है कि जिससे यह संसार बना है॥ ६॥

इयं विसृष्टिर्यत आबभूव यदि वा दधे यदि वा न।
यो अस्याध्यक्षः परमे व्योमन्त्सो अंग वेद यदि वा न वेद॥ ७॥

—ऋग्वेद १०।१२९

भाषार्थ—जिससे यह विविध प्रकार की सृष्टि उत्पन्न हुई वह क्या इसको धारण करता है या नहीं। परम अगाध आकाश में इसका जो अधिष्ठाता है, वह निश्चय से जानता है वा नहीं॥ ७॥

इन मन्त्रों को एक-साथ पढ़ने से स्पष्ट है कि ईश्वर, जीव तथा प्रकृति तीनों परस्पर भिन्न, अनादिस्वरूप हैं। इसी बात को आपके यहाँ गरुडपुराण, उत्तरखण्ड, ब्रह्मकाण्ड अध्याय २८ में स्पष्ट वर्णन किया है—

जीवश्च सत्यः परमात्मा च सत्यस्तयोर्भेदः सत्ये एतत्सदापि।
जडश्च सत्यो जीवजडयोश्च भेदो भेदः सत्यः किं च जडेशोर्भिदा॥ ६९॥
भेदः सत्यः सर्वजीवेषु नित्यं सत्या जडानां च भेदाः सदापि।
एतत्सर्वं यदि मिथ्या भवेत्तु तदा त्वसौ दशतु मां ह्यहीन्द्रः॥ ७०॥

—गरुड० उत्तर० ब्रह्म० अ० २८

भाषार्थ—जीव सत्य है, परमात्मा सत्य है और उनका भेद भी सदा से सत्य है। जड़ सत्य है, जीव-जड़ का भेद सत्य है, जड़ और ईश्वर का भेद सत्य है॥ ६९॥ सारे जीवों में सदा से भेद सत्य है और सदा ही जड़ों में परस्पर भेद सत्य है। यदि यह सब-कुछ मिथ्या हो तो

वह सर्पराज मुझको काट खाये॥७०॥

आशा है कि अब 'अभिन्ननिमित्तोपादानकारण' का ख़ब्त आपके दिमाग़ से अवश्य ही निकल जावेगा।

(१५९) प्रश्न—'आत्मैवेदमग्र आसीत्' इत्यादि [शतपथ १४।४।२।१] से सिद्ध है कि इसी ब्रह्म से समस्त संसार जड़-चेतन की उत्पत्ति हुई। —पृ० १२४, पं० ९

उत्तर—आपकी प्रतिज्ञा तो यह है कि वेद ब्रह्म को संसार का 'अभिन्ननिमित्तोपादानकारण' मानता है, किन्तु आप प्रमाण दे रहे हैं शतपथ का जोकि वेद नहीं है, फिर शतपथ का भी आपने पूरा पाठ नहीं दिया, अधूरा पाठ देकर मनमाना अर्थ कर डाला। लिजए, हम शतपथ का पूरा पाठ और ठीक-ठीक अर्थ नीचे देते हैं—

आत्मैवेदमग्र आसीत्। पुरुषविधः सोऽ नुवीक्ष्य नान्यदात्मनोऽपश्यत् सोऽहमस्मीत्यग्रे व्याहरत्ततोऽहं नामाभवत्तस्मादप्येतर्ह्यामन्त्रितोऽहमित्येवाग्र उक्त्वाथान्यन्नाम प्रब्रूते यदस्य भवति॥

—शतपथ १४।४।२।१

भाषार्थ—यह परमात्मा पहले ही था। वह व्यापक था। उसने विचारा, अपने बिना और परमात्मा न देखा। तब उसने '**अहमस्मि**' मैं हूँ, यह पहले कहा। तब से '**अहं**' नामवाला हो गया। इसलिए भी तो इस संसार में यहाँ '**अहम्**' यह पहले ही कहकर उसके पश्चात् और कोई नाम जो उसका हो, बोलते हैं।

इसमें परमात्मा के '**अहम्**' नाम की उत्कृष्टता वर्णन की गई है। सारे पाठ में एक पद भी ऐसा नहीं है जिसके ये अर्थ किये जा सकें कि इसी ब्रह्म से समस्त संसार जड़-चेतना की उत्पत्ति हुई। न जाने आपने यह इतना लम्बा अर्थ कहाँ से निकाल मारा? वेद तो ईश्वर, जीव, प्रकृति तीनों को अनादि मानता है तथा इन तीनों से संसार की पैदाइश मानता है। देखिए—

त्रयः केशिन ऋतुथा वि चक्षते संवत्सरे वपत एक एषाम्।
विश्वमेको अभि चष्टे शचिभिर्ध्राजिरेकस्य ददृशे न रूपम्॥

—ऋ० १।१६४।४४

भाषार्थ—तीन प्रकाशमय पदार्थ नियमानुसार विविध कार्य कर रहे हैं। इनमें से एक वासयोग्य संसार के लिए बीज डालता है, एक शक्तियों से, कर्म से, बुद्धि से संसार को दोनों ओर से देखता है, एक का वेग तो दीखता है, किन्तु रूप नहीं दीखता।

व्यासजी भी कहते हैं कि—

उभौ नित्यावविचलौ महद्भ्यश्च महत्तरौ। सामान्यमेतदुभयोरेवं ह्यन्यद्विशेषणम्॥८॥
प्रकृत्या सर्गधर्मिण्या तथा त्रिगुणधर्मया। विपरीतमतो विद्यात् क्षेत्रज्ञस्य स्वलक्षणम्॥९॥
प्रकृतेश्च विकाराणां द्रष्टारमगुणान्वितम्। अग्राह्यौ पुरुषावेतावलिंगत्वादसंहितौ॥१०॥

—महा० शान्ति० अ० २१७

भावार्थ—जीव तथा ब्रह्म दोनों अनादि, अचल, बड़ों से बड़े हैं—यह दोनों में समानता है। ऐसे ही और एक-दूसरे में विशेषताएँ हैं॥८॥ प्रकृति तीन धर्मोंवाली तथा पैदा करने के धर्मवाले से विपरीत है। इससे परमात्मा की विलक्षणता जाननी चाहिए॥९॥ वह स्वयं गुणों से रहित और प्रकृति के विकारों का द्रष्टा है। ये दोनों पुरुष न मिले हुए, निशानशून्य होने से इन्द्रियों द्वारा अग्राह्य हैं॥१०॥

आशा है अब आप अवश्य ही मान लेंगे कि ब्रह्म इस संसार का 'अभिन्ननिमित्तोपादानकारण' नहीं है, अपितु प्रकृति उपादानकारण तथा ब्रह्म निमित्तकारण है।